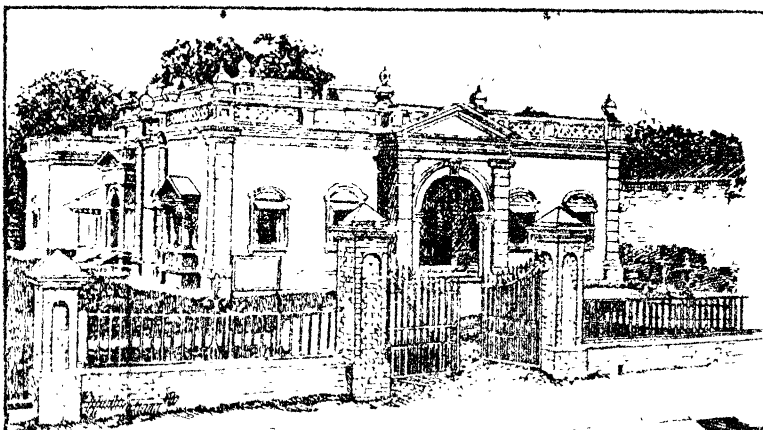
[अंक २३-२६]

नागरीप्रचारिणी लेखमाला

सम्पादक—

हरिहरनाथ बी० ए०



काशी

तारा यन्त्रालय में पंड्या गुलाब शंकर द्वारा

मुद्रित।

मूल्य प्रति संख्या ।।)

विषयानुक्रमणिका ।

वैशेषिक दर्शन ।

[औलूक्य]

वैशेषिक दर्शन के आदि प्रवर्तक ऋषि कणाद हैं । यह 'कण-भुक' 'कणभक्ष' इत्यादि नामों से भी ग्रंथों में प्रसिद्ध हैं । त्रिकाण्ड-शेष कोष में इन का नाम 'काश्यप' भी कहा है । कणाद कश्यप के पुत्र थे ऐसा किरणावली में लिखा है । एक नाम इन का 'औलूक्य' भी है । इस से इन को लोग उलूक ऋषि का पुत्र बतलाते हैं । ये उलूक मुनि विश्वामित्र के पुत्र थे यह महाभारत अनुशासन पर्व ४ अध्याय में लिखा है । वायु पुराण, पूर्वखण्ड, २३ अध्याय में कणाद के प्रसङ्ग में लिखा है कि वे सत्ताइसवीं चौयुगी में प्रभास क्षेत्र में शिव जी के अवतार सोमशर्मा नाम ब्राह्मण के शिष्य थे । इस से ऐसा मालूम होता है कि कश्यप गोत्र में, विश्वामित्र के पुत्र उलूक के पुत्र, सोमशर्मा के शिष्य कणाद रहे । इन के सूत्र 'कणाद सूत्र', 'वैशेषिक दर्शन' इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं । जैसे एक एक सूत्र की टीका रूप से 'भाष्य' और सूत्रों के हैं वैसा भाष्य वैशेषिक सूत्रों का कोई अब तक उपलब्ध नहीं है । प्रशस्त पाद की टीका 'भाष्य' कर के प्रसिद्ध है । पर इस ग्रन्थ के देखने से मालूम होता है कि यह सूत्रों की टीका नहीं है । सूत्रों के क्रम तक को इस में नहीं स्वीकार किया है । सूत्रों के आधार पर यह एक स्वतंत्र ही ग्रन्थ है । इस को 'भाष्य' कहना ठीक नहीं । पर सूत्रों को छोड़ कर यही ग्रन्थ वैशेषिक विषय पर सब से प्राचीन अब तक मिला है इस से इस को लोगों ने 'भाष्य' मान लिया है । प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'भाष्य' नहीं रक्खा—इस का नाम 'पदार्थधर्मसंग्रह' प्रथम श्लोक में कहा है । इस पर टीका जो 'न्यायकन्दली' नाम से प्रसिद्ध है उस में कहीं 'भाष्य' नाम से इस ग्रन्थ को नहीं कहा है । न्यायकन्दली की केवल एक पुस्तक पाई गई है जिस में मूलग्रन्थ को 'भाष्य' कहा है । फिर प्रशस्तपाद के ग्रन्थ की टीका-किरणावली-में लिखा है कि प्रशस्तपाद ने इस पदार्थधर्मसंग्रह को लिखा—'क्योंकि

भाष्य बहुत बड़ा ग्रन्थ है'। इस पर पद्मनाभ मिश्र टीकाकार ने लिखा है कि 'यह भाष्य रावण का किया है'। इस रावण कृत भाष्य की चर्चा वेदान्त भाष्य की रत्नप्रभा टीका में भी पाई जाती है। फिर भाष्य के लक्षण भी इस ग्रन्थ में नहीं पाए जाते। सूत्रों के अनुसार जिस में सूत्र पदों का अर्थ हो उसी को भाष्य कहते हैं। प्रशस्तपाद भाष्य की भूमिका में जिस तरह यह लक्षण इस ग्रन्थ में लगाया गया सो मन में नहीं बैठता। फिर जब एक बड़ा 'भाष्य' दूसरा है- ऐसा किरणावली ऐसे प्राचीन ग्रन्थ के लेख से स्पष्ट मालूम होता है-तब इस ग्रन्थ को भाष्य कहने का आग्रह ही क्यों? भाष्य ही होने से ग्रन्थ प्राचीन नहीं होता। बिना भाष्य हुए भी यह ग्रन्थ भाष्यों से प्राचीन हो सकता है। परन्तु वर्धमान उपाध्याय न्यायनिबन्धप्रकाश में-'सूत्रं बुद्धिस्थीकृत्य तत्पाठनियमं'-विना तदृन्याख्यानं भाष्यम्-ऐसा लक्षण करके प्रशस्त-पाद के ग्रन्थ को 'भाष्य' बतलाया है।

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ पर किरणावली और न्यायकंदली दो टीकायें प्रसिद्ध हैं। सूत्रों पर टीका, शंकर मिश्र का उपस्कार, आज कल उपलब्ध है। सूत्रों पर इस से प्राचीन कोई टीका अभी नहीं मिली है। सूत्रों पर एक वृत्ति भारद्वाज मुनि की की हुई है। सम्भव है यह 'भारद्वाज' न्यायवार्तिककार उद्योतकर ही हों। यह वृत्ति प्रायः प्रशस्तपाद के भाष्य से अधिक प्राचीन है। पर इस की पोथियां नहीं मिलतीं। एक आध प्रति बनारस में है।

प्रकरणग्रन्थ इस दर्शन के अनेक हैं। सप्तपदार्थी तर्कसंग्रह तर्कामृत-चषक-तर्ककौमुदी-मुक्तावली-इत्यादि।

वैशेपिकों का परमाणुवाद-परमाणु से सृष्टि होती है सो मत-और शब्द अनित्य है-यह मत मीमांसक और वेदान्तियों को नास्तिकता से मालूम पड़े। इस से वैशेपिकों को कुमारिल ने बौद्धों के समान नास्तिक (अर्थात् वेदनिन्दक) बतलाया है और शंकराचार्य ने इन को 'अर्धवैनाशिक'-आधा बौद्ध-कहा है। परन्तु प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आरम्भ में महादेव को नमस्कार किया है-और 'महेश्वर की इच्छा से सृष्टि होती है' यह स्पष्ट लिखा है। इस से इन को नास्तिक कहना ठीक नहीं मालूम होता।

गौतम ने न्याय सूत्रों में दो वादी प्रतिवादी के बीच शास्त्रार्थ रूप से अपने शास्त्र को रचा है—उसी के अनुकूल उन्होंने अपने सोलह पदार्थों का निरूपण किया है । इसीसे न्याय सूत्रों में फजूल बातों का विचार घुसेड़ दिया है ऐसा लोग आक्षेप करते हैं । वैशेषिक सूत्रों में यह बात नहीं है । इस में आरम्भ ही से मोक्ष कैसे होता है इसी का विचार किया है ।

कणाद ने पहिले सूत्र में प्रतिज्ञा की है कि मैं 'धर्म की व्याख्या करता हूं' अर्थात् धर्म क्या वस्तु है सो समझाऊंगा । धर्म का विचार आवश्यक है क्योंकि विना धर्म के पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता । दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण कहा है—'जिस से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष होता है वही धर्म है' । अर्थात् धर्म से पदार्थों का ज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है । यह धर्म कौन सी वस्तु है जिससे तत्त्वज्ञान होता है ? काम्य कर्मों से निवृत्ति और नित्य कर्मों का अनुष्ठान—इत्यादि जो वेद में कहे हैं वही धर्म है ।

वह कौन सा 'तत्वज्ञान' है जिस से मोक्ष होता है ? चौथे सूत्र में कहा है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छओ पदार्थ क्या हैं-इन का क्या लक्षण है-कौन से लक्षण किन किन पदार्थों में हैं-इन में से किन में क्या साधर्म्य है क्या वैधर्म्य है-इत्यादि के ज्ञान को ' तत्वज्ञान ' कहते हैं । और इसी तत्वज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष होता है ।

यहां पदार्थ छही कहे हैं । प्राचीन वैशेषिक ग्रन्थों में ये ही छ हैं । सप्त पदार्थों में पहिले सातवां पदार्थ 'अभाव' माना है ।

ये द्रव्यादि पदार्थ कौन से हैं, इनके लक्षण— साधर्म्य वैधर्म्य, क्या हैं इत्यादि विचार पांचवें सूत्र से लेकर अन्त तक किया है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय येही पदार्थ सूत्र (१.१.४) में कहे हैं । प्रशस्तपाद ने भी येही छ पदार्थ कहे हैं । 'पदार्थ' उसको कहते हैं जिसका ज्ञान हो सके । इससे जितनी चीजें संसार में हैं सभी 'पदार्थ' कहलाती हैं । वे कुल चीजें इन्हीं छओं के अन्तर्गत हैं । इन छओं से बाहर कोई भी चीज नहीं हो सकती । ये छ ' भाव ' पदार्थ हैं और हर एक वस्तु अपने विपरीत को सूचित

करती है । इस से इन पदार्थों के विपरीत एक पदार्थ 'अभाव' नवीन वैशेषिकों ने मान लिया है । जितनी चीजों का ज्ञान होता है वे क्या भावरूप है या अभावरूप । भावरूप जितनी हैं वे क्या द्रव्य हैं या गुण वा कर्म वा सामान्य वा विशेष वा समवाय । पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान से यह मतलब है कि इसी तरह कुल पदार्थों के यथार्थ लक्षण का ज्ञान हो सकता है । कौन कौन गुण किन किन पदार्थों में हैं इस के जानने ही से पदार्थों का तत्वज्ञान होता है । इसी से प्रशस्तपाद भाष्य से लेकर मुक्तावली पर्यन्त सब वैशेषिक ग्रन्थो मे पहिले पदार्थों के साधर्म्य का विचार कर के फिर वैधर्म्य का विचार किया है । वैधर्म्य के विचार ही से एक एक कर सब पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ।

अब इन पदार्थों के परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य का विचार करना आवश्यक है । पहिले साधर्म्य का विचार किया गया है, अर्थात् कौन कौन सी चीजें एक तरह की समझी जा सकती है । इस के बाद इन सभों के वैधर्म्य का विचार होगा; अर्थात् एक एक करके इन के क्या लक्षण है, क्या स्वभाव है, इत्यादि बातों पर विचार होगा ।

छओ पदार्थों का साधर्म्य यही है कि ये सब वर्तमान हैं-शब्दों से कहे जा सकते हैं और इनका ज्ञान हो सकता है ।

नित्य द्रव्यों को छोड़ कर और जितनी चीजें है उन सभो का यह साधर्म्य है कि ये आश्रित है, अर्थात् किसी आधार पर रहती है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष—इन पांचों का यही साधर्म्य है कि ये अनेक हे और द्रव्यों के साथ इनका नित्य सम्बन्ध रहता है ।

गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, इन पांचो का साधर्म्य है कि इन के कोई गुण या कर्म नहीं है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, इन तीनों का साधर्म्य है कि इन में सत्ता रहती है-इन के सामान्य (जातियां) होती है, इन के विशेष भी होते है और धर्म अधर्म के कारण होते हैं ।

सभी रहती हैं इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ये वर्तमान हैं तात्पर्य यह है कि 'सत्ता' इन में जाति रहती है अर्थात् 'सत्ता' जो एक जाति है उस में द्रव्य, गुण, कर्म अन्तर्गत है । और पदार्थ यद्यपि

वर्तमान या सत् है तथापि उनमें 'सत्ता' जाति हैं ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में सामान्य या जाति रह सकती है।

जितनी वस्तुओं के कारण हैं वे सब कार्य हैं और अनित्य हैं, यही इन का साधर्म्य है।

परमाणु के परिमाण को छोड़ कर और जितनी चीजें हैं इन सभों में यही साधर्म्य है कि ये कारण हो सकती हैं।

सामान्य, विशेष और समवाय, इन तीनों का साधर्म्य यह है कि इनका विकार नहीं होता। अपने अपने रूप से ये सदा बने रहते हैं। बुद्धि ही से केवल इनका ज्ञान हो सकता है, इन्द्रियादि से नहीं, ये कार्य नहीं होते, कारण नहीं होते। इन का सामान्य या विशेष नहीं होता, ये नित्य हैं।

द्रव्य गुण का साधर्म्य है कि दोनों अपनी सजातीय वस्तु उत्पन्न करते हैं।

पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा, मन ये नव 'द्रव्य' कहलाते हैं। गुणों का आधार जो हो सके, जिस में गुण का आधार होने की सामर्थ्य हो, वही 'द्रव्य' कहलाता है। और पृथिव्यादि जो नौ चीजें हैं उन्हीं में गुण रह सकते हैं। इन से अलग कोई गुण कहीं भी नहीं रह सकता है। इस से इन नवों चीजों में यही साधर्म्य है कि ये गुणों के आधार हो सकती हैं—अर्थात् द्रव्य हैं। इन नवों के और साधर्म्य ये हैं कि इन का विकार होता है, इन के गुण हैं, कार्य या कारण से इन का नाश नहीं होता और इन में अन्त्य विशेष होते हैं।

अवयव वाले द्रव्यों को छोड़ कर और जितने द्रव्य है उन का यह साधर्म्य हैं कि ये किसी आधार पर नहीं रहते और नित्य हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा और मन का यह साधर्म्य है कि ये अनेक हैं और इन की पर अपर दोनों तरह की जाति होती है।

पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और मन का यह साधर्म्य है कि इन में क्रिया होती है—ये मूर्त हैं अर्थात् स्थूल मूर्तिवाले हैं। इनमें परत्व अपरत्व और वेग है।

आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन का साधर्म्य यह है कि ये सर्व-व्यापी हैं-इनका परिमाण परम है, ये इतने बड़े हैं कि जिस से बड़ा दूसरा नहीं हो सकता ।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इनका साधर्म्य है कि ये भूत हैं-एक एक बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य हैं । और इन्द्रियां इन्हीं के विकार हैं ।

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इनका साधर्म्य है कि इनका स्पर्श होता है और ये ही समवाय कारण होते हैं ।

पृथिवी, जल, अग्नि, का साधर्म्य है कि ये प्रत्यक्ष हैं, इन में रूप और द्रवत्व है ।

पृथिवी, जल का साधर्म्य है कि इन्हीं में गुरुत्व और रस है ।

पृथिव्यादि पांचों भूत और आत्मा, इनका साधर्म्य है कि इनके विशेष गुण होते हैं ।

आकाश और आत्मा का साधर्म्य, है कि इनके जितने विशेष गुण हैं सब क्षणिक हैं और इनके एक एक अंशों ही में ये गुण रहते हैं ।

दिक्, काल का साधर्म्य है कि कुल कार्यों के ये निमित्त कारण होते हैं ।

पृथिवी, अग्नि का साधर्म्य है कि इनके नैमित्तिक द्रवत्व है ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द—ये २४ 'गुण' हैं अर्थात् ये चौबीस द्रव्यों में रहते हैं और इनका स्वयं कोई कर्म नहीं है । यही इनका साधर्म्य है ।

उत्क्षेपण (ऊपर फेकना)—अपक्षेपण (नीचे फेकना)-आकुंचन (सकोड़ना)-प्रसारण (फैलाना) और गमन (जाना या चलना) ये पांच 'कर्म' हैं । कर्म वही है जिस से दो वस्तुओं का संयोग उत्पन्न होता है । इस से पांच कर्म जो गिनाये हैं उनका साधर्म्य यही है कि ये संयोग उत्पन्न करते हैं । घूमना-बहना-जलना-गिरना इत्यादि जितनी क्रियायें हैं वे सब 'गमन' के अन्तर्गत हैं ।

पर और अपर ये दो 'सामान्य' हैं-सामान्य उसको कहते हैं जो नित्य है, एक है, और अनेक वस्तु में एक काल में रहता है । अर्थात् जिसके द्वारा अनेक वस्तुओं का एक ज्ञान हो सकता है । इस से यही पर अपर का साधर्म्य हुआ ।

'विशेष' वे हैं जिनके द्वारा नित्य द्रव्य में विभेद होता है । अर्थात् जिनके द्वारा भिन्न भिन्न परमाणु का भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न होता है । जितने नित्य द्रव्य हैं उतने ही विशेष भी हैं । इनका यही साधर्म्य है कि ये नित्य द्रव्यों में रहते हैं और भिन्न भिन्न व्यक्ति को भिन्न भिन्न ज्ञान उत्पन्न करते हैं ।

जो चीजें कभी एक दूसरे से अलग नहीं पाई जातीं और जो एक दूसरे का आधार होती हैं-इनका जो यह नित्य सम्बन्ध है उस को 'समवाय' कहते हैं । जितने ऐसे सम्बन्ध हैं उनका यही साधर्म्य है कि वे 'समवाय' अर्थात् नित्य सम्बन्ध हैं ।

पदार्थों के साधर्म्य यों हैं । अब इनके वैधर्म्य का विचार करते हैं । अर्थात् किस पदार्थ में क्या खास गुण है क्या खास लक्षण है जिस से वह और पदार्थों से भिन्न समझा जाता है, यह एक एक पदार्थ को लेकर निरूपण करेंगे ।

द्रव्य ।

पदार्थों में सब से पहिले 'द्रव्य' कहा है । और पदार्थों से द्रव्य का वैधर्म्य यही है कि यह गुणों का और कर्मों का आश्रय होता है और यही समवायि कारण होता है । (सूत्र १.१.१५) । द्रव्य नव हैं– पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ।

पृथिवी ।

पृथिवी का वैधर्म्य है गन्ध–अर्थात् गन्ध एक ऐसा गुण है जो केवल पृथिवी में रहता है और किसी द्रव्य में नहीं (सू. २. २. २)। इस के अतिरिक्त और गुण पृथिवी में ऐसे भी हैं जो और द्रव्यों में

भी हैं, जैसे रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, संस्कार। सूत्र में (२.१.१.) 'रूप-रस-गंध-स्पर्शवती पृथिवी' ऐसा ही कहा है—पर भाष्य में ये चौदहो कहे हैं। रूप पृथिवी के शुक्ल आदि अनेक होते हैं। रस छ प्रकार के हैं—मीठा, खट्टा, लवण, कडुआ, तीता, कषाय। गंध दो प्रकार का है-सुगंध और दुर्गन्ध। स्पर्श इसका असल में न ठंढा ही है न गरम—परन्तु अग्नि के संयोग से बदलता रहता है।

पृथिवी दो प्रकार से संसार में पाई जाती है। नित्य और अनित्य। परमाणुरूप से नित्य और कार्य--स्थूल--वस्तु रूप से अनित्य। कार्य रूप पृथिवी से बनी हुई स्थूल चीज़ तीन प्रकार की होती हैं। शरीर इन्द्रिय और विषय। आत्मा का भोगायतन-जिस आधार में रह कर आत्मा को सुख दुःख का भोग होता है उसको 'शरीर' कहते हैं। शरीर दो प्रकार के होते हैं-योनिज और अयोनिज। अयोनिज शरीर देवताओं और ऋषियों के होते हैं—इनके शरीर की उत्पत्ति में शुक्र शोणित संयोग की अपेक्षा नहीं होती। इनके धर्म का पृथिवी-परमाणुओं पर असर ऐसा पड़ता है कि इनके शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह क्षुद्र कीड़े खटमल इत्यादि के शरीर भी विना शुक्र शोणित संयोग ही के उत्पन्न होते हैं—केवल उनके अधर्म का असर पृथिवी परमाणुओं पर पड़ने से। शुक्र शोणित के मिलने से जो शरीर उत्पन्न होता है वही योनिज है। ये दो तरह के होते हैं। जरायुज, जैसे मनुष्यादि शरीर और अण्डज जैसे पक्षियों के शरीर।

जिस से संयुक्त होकर मन आत्मा का संयोग पाकर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है उसी को इन्द्रिय कहते हैं। वैशेषिकों का मत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में जिस विषय का ज्ञान होता है उस का संयोग इन्द्रिय से होता है। फिर मन का संयोग उस इन्द्रिय से होता है, तब मन का संयोग आत्मा से होता है-तदनन्तर इस आत्मा में उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसीसे न्यायकंदली में (पृ० ३२) आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान का जो साधन या कारण है उसी को 'इन्द्रिय कहा है। पृथिवी का बना हुआ इन्द्रिय वह है जिस से गन्ध का ग्रहण होता है-अर्थात् घ्राणेन्द्रिय-नाक। यह इन्द्रिय पृथिवी का

बना है इस में सबूत यही है कि गुणों में गंध ही का ग्रहण इससे होता है और गंध गुण केवल पृथिवी में है ।

पृथिवी के विषय मिट्टी, पत्थर, वृक्ष इत्यादि हैं । यद्यपि शरीर और इन्द्रिय का भी ज्ञान होता है-इससे ये भी 'विषय' कहला सकते हैं-पर जिस शरीर में या जिस इन्द्रिय के द्वारा आत्मा में ज्ञान होता है वह शरीर या इन्द्रिय उस आत्मा के ज्ञान का विषय नहीं होता । इसलिये शरीर और इन्द्रिय को ' विषय ' से अलग कहा है । न्यायकन्दली (पृ० ३२) में शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त जो आत्मा के उपभोग के साधन होते हैं उन्हीं को विषय कहा है । आत्मा के भोग-सुखदुःख-में जिनका उपयोग होता है अर्थात् जिनका ज्ञान होता है, जिन के पाने न पाने से आत्मा को सुख दुःख होता है, वे ही विषय हैं ।

वृक्षों को प्रशस्तपाद ने 'विषय' माना है । कुछ लोगों का मत है कि इन में चेष्टा होती है, इस से वृक्षों को ' शरीर ' कहना उचित है । ऐसा मत विश्वनाथ का है । पर शंकर मिश्र (उपस्कार में) कहते हैं कि इन में चेष्टा है इस का दृढ प्रमाण नहीं मिलता है, इससे यद्यपि इन में शरीरत्व हो भी तथापि इनको ' शरीर ' कहना ठीक नहीं ।

जल ।

शीत स्पर्श जिस द्रव्य में है वही जल है [सूत्र २.२.५] । जल के गुण [सूत्र २.१.२ में] रूप रस स्पर्श द्रवत्व और स्नेह कहे हैं । पर भाष्य में उन के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार भी कहे हैं (पृ. ३५) । जल का रूप शुक्ल है । जब जल में दूसरा रंग देख पड़ता है तब वह रंग जल में मिली हुई किसी दूसरी चीज का है । जैसे लाल स्याही में से अगर लाल बुकनी अलग कर दी जाय तो खाली पानी का रंग सफेद रह जायगा । जल का रस मीठा है । छ तरह के रस होते हैं । कड़ुआ तीता मीठा खट्टा लवण कषाय । इन में से मीठा छोड़ कर और कोई भी रस पानी में नहीं पाया जाता । वैसे तो मीठापन भी

साफ साफ नहीं मालूम होता, पर जब हर्रे या आँवला खाकर पानी पीया जाता है तो मिठापन साफ मालूम होता है। स्पर्श इस का शीत है। जब तक बाहर से गरमी न लगाई जाय तब तक पानी ठंढा ही मालूम होता है। स्वाभाविक द्रवत्व-अर्थात् बिना बाहर से गरमी लगाये हुये भी बहना-यह गुण केवल जल ही में है। और जितनी चीजें हैं वे गल कर तभी बह सकती हैं जब गरमी लगाई जाय। जल में ऐसा नहीं है, वह स्वयं बहता ही रहता है। स्नेह-चिकनाहट-भी जल ही का गुण है, बगैर जल के चिकनाहट नहीं होती।

परमाणु और कार्य-इन्हीं दो रूप में जल भी पाया जाता है। परमाणु नित्य है, कार्य अनित्य। शरीर इन्द्रिय विषय कार्यरूप जल के भी हैं। जलीय शरीर वरुण लोक में पाए जाते हैं। इन शरीरों में केवल जल ही रहता है ऐसा नहीं। मुख्य द्रव्य इन में जल रहता है; जैसे हम लोगों के शरीर में केवल पृथिवी नहीं है, पांचो भूत हैं तथापि ये पार्थिव कहलाते हैं क्योंकि प्रधान द्रव्य इन में पृथिवी है। जलीय इन्द्रिय है जिह्वा। विषय है नदी समुद्र बरफ़ इत्यादि।

तेजस् (अग्नि)।

उष्ण (गरम) स्पर्श जिस में है वही तेजस् या अग्नि है। गरमी केवल तेज ही में है (सूत्र २.२. ४)। तेज के गुण सूत्र में (२. १. ३) रूप और स्पर्श दो ही कहे हैं। पर भाष्य में इनके अतिरिक्त विशेष गुण संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग वियोग परत्व अपरत्व द्रवत्व संस्कार भी कहे हैं (पृ. ३८)। इसका रूप शुद्ध भास्वर—सफेद चमकीला है। स्पर्श गरम है।

तेज भी दो प्रकार का है, परमाणु रूप और कार्यरूप शरीर इन्द्रिय विषय तीन प्रकार के कार्य हैं। तैजस शरीर अयोनिज सूर्यलोक के वासियों का ही है। तैजस इन्द्रिय आंख है। इससे केवल रूप का ग्रहण होता है। तेजस् विषय चार प्रकार के हैं। भौम(भूमि सम्बन्धी)जैसे लकड़ी कोयले के जलाने से उत्पन्न आग; दिव्य—जैसे सूर्य नक्षत्रादि विद्युत् के तेज; उदर्य-प्राणियों के उदर सम्बन्धी-जैसे पेट की आग जिस से आहार का पाक होता है; आकरज-खान से उत्पन्न-जैसे

सोना चांदी इत्यादि। भाम और दिव्य तेज का तेज होना तो साफ है। पेट की आग को आग इस लिये माना है कि बिना आग के किसी तरह का पाक नहीं हो सकता और बिना आग के गरमी भी नहीं उत्पन्न हो सकती; और हम देखते हैं कि पेट में जाकर अन्न पचता है, उसका रूपान्तर होता है और इस पचने से शरीर में गरमी पैदा होती है। इस से हम समझ सकते हैं कि पेट में आग है। सुवर्णादि धातु पिघल कर फिर पिछली ही अवस्था में रहते हैं न गरमी से ठोस ही हो जाते और न जल कर खाक ही होते हैं। इस से ये पृथिवी द्रव्य नहीं कहे जा सकते। इनका स्वरूप ठोस है इस से ये जल नहीं हो सकते। स्पर्श है इस से वायु नहीं। इस लिये इन को तेजस् अवश्य मानना चाहिये।

पदार्थ विद्या जिस अवस्था में प्राचीन समय में थी उसके अनुसार इस युक्ति का उत्तर नहीं हो सकता। पर अब हम लोग जानते हैं कि आज कल जितने गरमी पहुंचाने के यन्त्र हैं उनमें यदि सोना डाल दिया जाय तो भस्म हो जाता है। पुराने समय में भी रसायन शास्त्रवाले इनका भस्म करते थे पर यह भस्म औषधियों के द्वारा होता था इससे स्वतंत्र सोना भस्म होता है इस बात को वैशेषिकों ने नहीं स्वीकार किया।

तेजस् विषयों का एक और विभाग शंकर मिश्र ने कणादरहस्य में बतलाया है। (१) जिसका रूप और स्पर्श उद्भूत अर्थात् अनुभव योग्य हो, जैसे सूर्य का तेज। (२) जिसका रूप उद्भूत है पर स्पर्श अनुद्भूत, जैसे चन्द्रमा का तेज। (३) जिसके रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत हैं जैसे आँखों का तेज। (४) जिसका रूप अनुद्भूत है और स्पर्श पूरे तौर पर उद्भूत, जैसे तपाई हुई मिट्टी की हांडी में या तपाए तेल में।

वायु।

जिस द्रव्य में ऐसा स्पर्श है जो न गरम हो न ठंढा, वही वायु है। वायु के गुण हैं स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, संस्कार। वायु में रूप नहीं है। इससे पृथिवी, जल

तेज की तरह यह आंख से देखी नहीं जाती । सूत्र के अनुसार वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता । क्योंकि इस में रूप नहीं है (सूत्र ४ १, ७) भाष्य के भी मत में वायु का प्रत्यक्ष नहीं है (पृ. ४४)। यद्यपि वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है तथापि इस को वायु का प्रत्यक्ष नहीं कह सकते । क्योंकि स्पर्श का केवल ज्ञान होता है स्पर्शवान् द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता । अर्थात् जैसे रूपवाली वस्तु में रूप रूपी दोनों का प्रत्यक्ष होता है, पीला फल और पीला रंग दोनों देख पड़ते हैं, वैसे स्पर्श और स्पर्शवाले वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है । केवल स्पर्श का ज्ञान होता है। स्पर्श एक गुण है। इसका आधार कोई द्रव्य अवश्य होगा। इसी से अनुष्ण अशीत स्पर्श के आधार वायु का अनुमान ही होता है । इस में वायु के गुण का प्रत्यक्ष है और वायु का अनुमान ही होता है ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है । काणाद रहस्य में शंकर मिश्र और तर्क संग्रह में अन्नम्भट्ट ने भी ऐसा ही माना है। परंतु नवीन नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष भी मानते हैं।

वायु भी अणु कार्य रूप से दो प्रकार का है । कार्य रूप वायु चार प्रकार के हैं। (१) शरीर वायु, लोक के जीवों का है। (२) इन्द्रिय-जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह त्वगिन्द्रिय वायु ही से बनी है और शरीर में सर्वत्र रहती है। (३) विषय जिस को हम लोग हवा कहते हैं, जिसके द्वारा वृक्ष हिलते हैं, बादल इधर उधर उड़ते हैं, जिसका अनुमान स्पर्श, शब्द, कम्प इत्यादि से होता है। वायु नाना है इस में यही प्रमाण है कि अकसर देखा गया है कि दो तरफ से हवा जोर से बहती है तो बीच में मिल कर दोनों की तेजी कट जाती है जिसे 'हवा गिर गई' ऐसा कहते हैं। और ऐसे विरुद्ध वायु वेग की टक्कर से धूल के या सूखी पत्तियों के चक्कर ऊपर उठते नजर आते हैं। (४) प्राण भी वायु का विषय है । यही शरीर के भीतर रस, मल, धातुओं का इधर उधर चालन करता है । यद्यपि यह है एक ही तथापि नाना कार्य करने के कारण से पांच माना गया है । जैसे मूत्रादि जिस वायु के द्वारा बाहर निकलता है उसे 'अपान' कहते हैं । जिस के द्वारा रस नाड़ियों में फैलता है उस को 'व्यान' कहते हैं । अन्न पानी जिस के द्वारा ऊपर आते हैं वह 'उदान' कहलाता है। जिस

के द्वारा पेट की आग अन्न के पचाने के लिये इधर उधर चलाई जाती है उसे 'समान' कहते हैं। मुख और नाक के द्वारा जो बाहर निकलता है उसे 'प्राण' कहते हैं। (प्रशस्तपाद श्रीधरी टीका पृ.४८)

प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कण्ठ में, व्यान सर्वत्र शरीर में रहता है ऐसा पुराणों का मत है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु कैसे उत्पन्न होते हैं।

आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चार द्रव्यों के अवयव नहीं होते। ये अपने रूप में सर्वदा बने रहते हैं। इन में घटती बढ़ती नहीं होती। इससे इनको नित्य माना है। इनकी उत्पत्ति नहीं होती नाश नहीं होता। पृथिवी आदि के अवयव होते हैं। इस से इनकी उत्पत्ति मानी गई है।

पृथ्वी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति प्रशस्तपाद भाष्य (पृष्ट ४८, ४९) में इस प्रकार वर्णित है।

जीवों के कर्मफल के भोग करने का समय जब आता है तब महेश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट के बल से वायु के परमाणुओं में चलन उत्पन्न होता है। इस चलन से उन परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते है। तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक त्रसरेणु इत्यादि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इस जल में पृथ्वी परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महा पृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तेजस परमाणुओं के परस्पर संयोग से तेजस द्व्यणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इसी तरह चारों महाभूत उत्पन्न होते हैं।

यही संक्षेप में वैशेषिकों का 'परमाणुवाद' है। इसमें पहिली बात विचारने की यह है कि परमाणु मानने की क्या आवश्यकता है। इस पर वैशेषिकों का सिद्धान्त ऐसा है कि जितनी चीजें हम देखते

हैं और हमारे देखने योग्य हैं वे सब कई छोटे२ टुकड़ों से बनी हुई हैं। इन टुकड़ों के भी कई टुकड़े हैं। इस तरह एक२ टुकड़े को तोड़ते२ अन्त में जाकर ऐसे टुकड़े होंगे जिनके टुकड़ों को हम नहीं देख सकते। ऐसे टुकड़े का नमूना सूर्य की किरणों में जो छोटे २ कण देख पड़ते हैं उन्हें बतलाया गया है। इसके भी टुकड़े अवश्य होंगे क्योंकि मैं इसे देख सकता हूं। परन्तु इन टुकड़ों को मैं देख नहीं सकता। इसलिये इन टुकड़ों को अणु माना है। इस अणु के भी टुकड़े हैं, क्योंकि अगर इनके टुकड़े न होते तो इनसे बना हुआ पदार्थ देख नहीं पड़ता। इसी अन्तिम टुकड़े को 'परमाणु' कहते हैं। ऐसे दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के मिलने से एक त्रसरेणु, इस क्रम से सब वस्तु उत्पन्न होती हैं।

टुकड़ा करने का अन्त कहीं न कहीं अवश्य मानना होगा। नहीं तो संसार में जितनी चीजें हैं सब ही में अनन्त टुकड़े मानने पड़ेंगे। सभी वस्तु एक परिमाण की होंगी अर्थात् जितने अनन्त टुकड़े, पृथ्वी के खण्ड, एक छोटे से मिट्टी के ढेले में, होंगे वैसेही अनन्त टुकड़े पहाड़ में भी होंगे। परन्तु यदि टुकड़ों का विराम परमाणु पर जाकर मान लिया जाय तो ऐसा नहीं होगा। छोटी चीज में थोड़े परमाणु होंगे बड़ी चीज में अधिक। इस तरह परमाणु भेद सिद्ध हो जाता है।

वैशेषिकों ने चार भूतों के चार तरह के परमाणु माने हैं, पृथ्वी परमाणु, जल परमाणु, तेज परमाणु, वायु परमाणु। पांचवें भूत आकाश के अवयव या टुकड़े नहीं हैं। वह निरवयव स्थिर भूत केवल शब्द का आधाररूप माना गया है। इन सब परमाणुओं के खास खास गुण हैं।

परमाणुओं का संयोग तीन प्रकार का होता है। (१) शुद्ध-एक भौतिक वस्तु की उत्पत्ति में अनवरत चलते हुए परमाणु दो दो कर के संयुक्त होकर द्व्यणुक हो जाते हैं। फिर ये द्व्यणुक तीन, चार, पांच, छ इस क्रम से इकट्ठे हो कर नाना वस्तु बन जाते हैं। प्राचीन वैशेषिकों का यही मत है। परन्तु कुछ लोगों का ऐसा मत है कि दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक, तीन परमाणुओं के मिलने

से त्रसरेणु इत्यादि बनते हैं । परन्तु वैशेषिकों का शुद्ध मत यही है कि दो परमाणु से द्यणुक, तीन द्व्यणुक से त्रसरेणु, चार द्व्यणुक से चतुरणुक इत्यादि । जैसे जैसे गुण परमाणु में होंगे वैसे ही वैसे गुण उनसे बने हुए सब वस्तुओं में होंगे । अर्थात् जो गन्ध जो गुरुत्व इत्यादि पृथ्वीपरमाणु में हैं वे ही सब पार्थिव वस्तुओं में हैं । वैशेषिकों का सिद्धान्त है कि कारणगुण पूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं । पृथ्वी वायु इत्यादि भूतों की बनी वस्तु नाना आकार नाना रूप की होती हैं इसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न वस्तु के द्व्यणुकों का या त्रसरेणुकों का संनिवेश, गठन, भिन्न भिन्न तरह का है । सामान्य रूप से यद्यपि वस्तुओं के गुण इस प्रकार हैं तथापि तेज (अग्नि) के संबन्ध से वस्तुओं के गुण में फेर फार आ जाता है, जैसे कच्चा घड़ा पकाये जाने पर लाल हो जाता है । इसमें वैशेषिकों का यह मत है कि अग्नि की तेजी से घड़े के टुकड़े २ हो जाते हैं । इस तरह परमाणुओं का रङ्ग बदल कर लाल हो जाता है । ये लाल परमाणु आपस में मिल मिला कर घड़े के रूप से परिणत होते हैं । यह घड़े का नष्ट और उत्पन्न होना ऐसे सूक्ष्म काल में होता है कि हम लोग इसे देख नहीं सकते । यही मत 'पीलुपाक मत' कहलाता है । नैयायिकों का मत ऐसा नहीं है । उनका मत है कि इस प्रकार अदृश्य नाश और उत्पत्ति मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है । सब वस्तु में परमाणुओं का या द्व्यणुकों का संयोग इस प्रकार रहता है कि उनके बीच बीच में छिद्र रह जाते हैं । इन्हीं छिद्रों में अग्नि का तेज जाकर परमाणुओं का रूप बदल कर घट इत्यादि के रूप को बदल देता है (न्यायवार्तिक ३. १. ४) ।

(२) कई वस्तु ऐसी हैं जो कि एक ही भूत के बने हुए दो वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न हो कर उन दोनों वस्तुओं से भिन्न रूपादि गुण वाली उत्पन्न हो जाती हैं । जैसे शुक्र और शोणित के संयोग से शरीर उत्पन्न होता है । इसमें भी अग्नि के तेज के द्वारा शुक्रपिंड और शोणित पिण्ड दोनों खण्ड खण्ड होकर परमाणु रूप से अवस्थित होते हैं और फिर उसी तेज के बल से अपने खास खास गुण को खो कर एक सामान्य गुण का ग्रहण करते हैं । फिर परस्पर द्व्यणुकादि क्रम से संयुक्त हो कर शरीर रूप से परिणत हो जाते हैं । यह तो एक

भूत के बने हुए का संयोग हुआ। कभी कभी भिन्न भूतों से बने हुए वस्तुओं का संयोग देख पड़ता है। जैसे दूध में, तेल में, फलों के रस में पार्थिव और जलीय वस्तुओं का संयोग पाया जाता है। इन सब में पृथ्वी परमाणु जल में घुल कर जब जल परमाणु से वेष्टित हो जाते हैं तब जल परमाणु के उपष्टम्भ या जोर से पृथ्वी परमाणु में तेज के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के रूप, रस, गंध इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। यहां एक भेद किरणावली में बतलाया है। उपष्टम्भक पांचों भूत हो सकते हैं। अर्थात् परमाणुओं के गुण परिवर्तन में पृथ्वी जल वायु सभी प्रवर्तक हो सकते हैं। परन्तु ऐसे परिवर्तन का निरोधक केवल पृथ्वी परमाणु हो सकता है।

(३) कुछ द्रव्यों के संयोग ऐसे हैं कि ये परमाणु तक नहीं जाते, केवल ऊपर ऊपर संयोग मात्र है। जैसे जब मांस जल में पकाया जाता है तब मांस के पृथ्वी परमाणु में या जल के परमाणु में कुछ भेद नहीं उत्पन्न होता है।

अग्नि के संयोग से परमाणुओं के गुण बदलते हैं। जहां प्रत्यक्ष अग्नि नहीं देख पड़ती वहां वस्तु के भीतर अग्नि है ऐसा सिद्धान्त वात्स्यायन का है (४-१-४७)। परन्तु किरणावली में सिद्धान्त किया है कि जहां जहां तेज के संयोग से गुण का परिवर्तन होता है तहां तहां सूर्य के किरणों ही का व्यापार मान लेना उचित है।

भिन्न भिन्न भूतों के बने हुए वस्तु जब मिलते हैं, जैसे पृथ्वी और जल फल के रस में, तब पृथ्वी परमाणु जल परमाणु से नहीं मिलते किन्तु एक पृथ्वी द्व्यणुक एक जल द्व्यणुक से संयुक्त होकर एक टुकड़ा हुआ, फिर ऐसे ही द्व्यणुक के जोड़ बनकर एक दूसरे से संयुक्त हो जाते हैं। (प्रशस्तपाद, संयोग प्रकरण)।

आकाश।

पांचवां द्रव्य आकाश है। शब्द गुणवाले द्रव्य को आकाश कहते हैं। इसके गुण हैं शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग। शब्द एक गुण है। इससे यह किसी द्रव्य में रहेगा। जितने द्रव्य स्पर्श वाले हैं, जिनका स्पर्श हो सकता, जिनको हम छू सकते हैं, ऐसे द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता क्योंकि स्पर्श-

थात् द्रव्य के जितने गुण हैं सब जब तक वह द्रव्य रहता है तब तक स्थित रहते हैं और उस द्रव्य के अतिरिक्त और द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। जैसे लाल रंग, जब तक घट रहेगा तब तक रहेगा। और घट के अतिरिक्त और द्रव्यों में (कपड़े इत्यादि में) भी वह रंग रहता है। शब्द ऐसा नहीं है। इससे स्पर्शवाले द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होसकता। अर्थात् पृथ्वी जल वायु अग्नि इन चार का गुण शब्द नहीं है। फिर आत्मा के जितने गुण हैं, बुद्धि इत्यादि, ये किसी वाह्य इन्द्रिय से नहीं जाने जा सकते हैं। और शब्द कान से गृहीत होता है। इससे शब्द आत्मा का गुण नहीं होसकता। इसी कारण मन का भी गुण नहीं हो सकता। दिक्काल के भी जितने गुण हैं उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इससे शब्द इनका भी गुण नहीं होसकता है। पृथ्वी जल वायु अग्नि आत्मा काल दिक् मन इन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होसकता। इससे बाकी जो नवम द्रव्य आकाश रहा उसी का गुण शब्द माना गया है। सारांश यह है कि शब्द गुण जिस द्रव्य में रहता है उसी द्रव्य का नाम आकाश है।

शब्द एकही माना गया है और शब्दही आकाश का चिह्न है। इससे आकाश भी एकही है। परिमाण इसका 'परम महत्' है अर्थात् जिससे बड़ा नहीं हो सकता। आकाश की उत्पत्ति या नाश कभी नहीं देखे जाते, इससे वह नित्य है। शब्द आकाश का गुण है इससे शब्द का भान जिस इन्द्रिय से होता है—कान—उसको वैशेषिकों ने आकाशही माना है। अर्थात् कान के भीतर जो आकाश है उसीके द्वारा शब्दज्ञान होता है।

आकाश विभु सर्वत्र व्याप्त है। इसीसे इसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। अनुमान ही से इसका ज्ञान होता है। शब्द गुण का आधार द्रव्य कोई अवश्य होगा। पृथ्वी आदि द्रव्य शब्द के आधार नहीं हो सकते हैं। इससे आकाश एक द्रव्य है इसी अनुमान से आकाश सिद्ध होता है।

काल

छठां द्रव्य काल है। द्रव्यों के विषय में ऐसे ज्ञान होते हैं कि 'यह इसके आगे हुआ या पीछे—या 'ये दोनों साथ ही देख पड़े,'—'यह लड़का

देख पड़ा,"वह देर से देख पड़ा'।इन ज्ञानों का जो असाधारण कारण है उसी को वैशेषिकों ने"काल"माना है(सूत्र २-२-६)। द्रव्यों के जितने उत्पत्ति और नाश होते हैं किसी न किसी काल में होते हैं। इससे उन उत्पत्तिनाशों का भी कारण काल को माना है (सूत्र २-२-६)। क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महा-प्रलय इत्यादि शब्दों का जो प्रयोग होता है उसका भी असाधारण कारण काल ही है। संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग काल के गुण हैं। आकाश की तरह काल भी विभु अर्थात् सर्वव्यापी है। जहां जो कुछ है वह अवश्य किसी काल में है। इस से इसका भी परिमाण महत् परिमाण माना गया है। काल अमूर्त है। अतएव इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, केवल अनुमान ही होता है। यद्यपि असल में यह एक है तथापि उपाधियों के द्वारा क्षण इत्यादि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होता है।जैसे किसी काल में किसी वस्तु के उत्पन्न होने की सामग्री जुट गई है इसके बाद उस वस्तु के उत्पन्न होने तक जो सूक्ष्म काल है उसको क्षण कहते है। अर्थात् जैसे दिन में हमने बाग़ की तरफ आंख उठाई और फूलों को देखा। नज़र के फूलों पर पड़ने और उनके देखे जाने के बीच में जो सूक्ष्म काल हुआ वही 'क्षण' कहलाता है। दो क्षण का एक लव, दो लव का एक निमेष[आंख की पलक के गिरने में जितना काल लगता है], अठारह निमेष की काष्ठा, तीस काष्ठा की कला, तीस कला का मुहूर्त, साठ मुहूर्त का अहोरात्र (दिन रात), पन्द्रह अहोरात्र का पक्ष, दो पक्षका मास, दो मास का ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष—इत्यादि किरणावली में वर्णित है।

दिक्

सातवां द्रव्य दिक है। जब हम लोग दो मूर्त्त पदार्थों को देखते हैं तब किसी एक को अवधि मान कर 'इससे वह द्रव्य पूर्व में है,वह पश्चिम में' इत्यादि ज्ञान होते हैं। इसी ज्ञान का असाधारण कारण दिक् है। काल और दिक् में यही मुख्य भेद है कि कालिकसम्बन्ध स्थिर रहता है और दैशिकसम्बन्ध बदलता है, अर्थात् दो भाइयों में किसकी उत्पत्ति पहले और किसकी बाद को,कौन जेठा है कौन छोटा, यह ज्ञान कभी बदल नहीं सकता। जो पहिले होगया वह सदा पहि-

लेही रहेगा और जो पीछे होगया वह पीछे। यह काल द्वारा आगे पीछे का सम्बन्ध सदा एकसा बना रहता है। दैशिक सम्बन्ध ऐसा नहीं होता। चार चीजें एक जगह रक्खी हैं, उनमें पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर का सम्बन्ध अभी एक तरह का है। उनके स्थान को उलट फेर करदेने से जो पूर्व था वह पश्चिम होजायगा जो दक्षिण था वह उत्तर॥

सख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग देश के गुण हैं। यह भी विभु और परम महान् और नित्य है। इसका भी प्रत्यक्ष नहीं केवल अनुमान होता है। यद्यपि देश एकही है तथापि महर्षियों ने मेरु को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर सूर्य के भ्रमण द्वारा दिशा के दश भेद माने हैं। और उनके नामभी सूर्यकी गति के अनुसार रक्खे हैं। जिधर सूर्य सबसे पहिले देख पड़ता है [प्रथमं अंचति] उसका नाम है प्राची,' (पूर्व) जिधर सूर्य नीचे जाता है वह अवाची, (दक्षिण) इत्यादि।

आकाश और दिक् इन दोनों को अलग मानने के कई कारण हैं। आकाश केवल शब्द का समवायि कारण है। दिक किसी वस्तु का समवायि कारण नहीं है। परन्तु सब कार्य्यों का निमित्त कारण है। आकाश का उसके शब्द गुण द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी माना जा सकता है दिक् का उसके कार्य्यों के द्वारा केवल अनुमान ही होता है।

आत्मा

आठवाँ द्रव्य आत्मा है। जिसमें ज्ञान उत्पन्न होता है, जो ज्ञान का समवायि कारण होता है-वही आत्मा है। कणादरहस्य में आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहा है। परन्तु यहां अधिकरण पद का समवायि कारण ही अर्थ है। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता—क्योंकि यह अमूर्त पदार्थ है। मूर्त पदार्थ ही का प्रत्यक्ष हो सकता है। कई नैयायिकों ने इसको प्रत्यक्ष माना है। परंतु वैशेषिक मत में आत्मा का अनुमान ही हो सकता है। किसी हथियार का व्यापार बिना कर्ता के नहीं होता—इन्द्रियां एक प्रकार के हथियार हैं-इससे इनके व्यापार का कोई कर्ता अवश्य होगा—यही कर्ता आत्मा है। फिर श्वास,प्रश्वास,निमेष, उन्मेष, सुख दुःख,

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न का आधार कोई अवश्य होगा । यही आत्मा है। इसी से सूत्र ३-२-४ में सुख दुःख इत्यादि को आत्मा का 'लिंग' अर्थात् चिह्न कहा है । इसका तात्पर्य वर्णन करते हुए प्रशस्तपाद ने कई अनुमान दिखलाये हैं ।

(१) हित पदार्थ के पाने का और अहित पदार्थ के छोड़ने का व्यापार जो मनुष्य में शरीर का होता है उससे शरीर में कोई चेतन पदार्थ है यह सूचित होता है । जैसे अच्छे मार्ग पर जाना और बुरे मार्ग को छोड़ना—इस रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथीरूप चेतन पदार्थ है-यह सूचित होता है ।

(२) श्वास प्रश्वास से जो शरीर फूलता है और संकुचित होता है—इससे यह सूचित होता है कि यह किसी चैतन्य वाले पदार्थ द्वारा होता है—जैसे भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूकने वाले के व्यापार से होता है ।

(३) आंखों का पलकें गिरती है उठती हैं—इससे सूचित होता है कि जिस तरह कुएं में मोट का गिरना और उठना पानी खींचने वाले के व्यापार से होता है उसी तरह यहां भी कोई चेतन पदार्थ अवश्य है ।

(४) शरीर में घाव लगता है और फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्माही के द्वारा हो सकता है, जैसे घर में रहने वाला घर की मरम्मत करता है ।

(५) जिस वस्तु के देखने की इच्छा होती है उसी वस्तु की ओर मन जाता है—यह व्यापार चेतन आत्माही का हो सकता है। यह व्यापार वैसाही है जैसे घर में बैठे हुए बालक का भिन्न भिन्न खिड़कियों की ओर ढेला फेंकना ।

इन सब युक्तियों से मालूम होता है की वैशेषिकों के मत में प्रति शरीर भिन्न आत्मा है । आत्मा अनेक हैं यह सूत्र (३-२-१९—२१) में बतलाया है । भिन्न भिन्न शरीर की प्रवृत्ति सुख दुःख इत्यादि भिन्न होती हैं—इससे आत्मा एक नहीं हो सकता (सूत्र ३-२-२०) । और शास्त्रों में भी आत्मा को अनेक कहा है (३—२—२१) । प्रशस्तपाद भाष्य में जीवात्मा परमात्मा का

(

(२)

भेद नहीं किया है। भेद किया भी क्यों जाय? ज्ञानाधिकरण तो जैसे एक आत्मा वैसे सब। सुख दुःखादि जितने आत्मा के गुण है वे सब जैसे एक में वैसे सब मे। और फिर वैशेषिक शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर या परमात्मा की चर्चा नहीं पाई जाती। पर नवीन ग्रन्थों मे आत्मा के दो विभाग पाये जाते है। कणाद-रहस्य मे शंकर मिश्र लिखते हैं—

'आत्मा के दो प्रकार हैं। एक तो 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् शरीरमात्र में उत्पन्न ज्ञान का ज्ञाता. और दूसरा 'सर्वज्ञ' सब जाननेवाला। [यही मुख्य भेद परमात्मा जीवात्मा में है। परमात्मा सर्वज्ञ है जीवात्मा अल्पज्ञ]'।

आत्मा के गुण—बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग, प्रशस्तपाद भाष्य में वर्णित हैं। जिन ग्रन्थकारों ने परमात्मा जीवात्मा का विभाग किया है उनके मत से ये सब गुण जीवात्मा ही के हैं—इन मे से दुःख धर्म अधर्म ये तीन परमात्मा में नहीं हो सकते। परमात्मा में सुख है वा नहीं इसमें मत भेद पाया जाता है।

परमात्मा, ईश्वर, संसार के कर्ता हैं इसका साधक आगम-वेद, और अनुमान है। पृथिव्यादि चार महाभूत कार्य अवश्य हैं, और जो कार्य है, जिसकी उत्पत्ति होती है, उसकी उत्पत्ति के पहिले उस का ज्ञान किसी को अवश्य होगा, घट का ज्ञान कुम्हार को होता है तब घट की उत्पत्ति होती है। इसी तरह पृथिव्यादि सकल पदार्थ का ज्ञान किसी आत्मा को अवश्य होगा। जिस आत्मा में यह ज्ञान होगा वही 'ईश्वर' परमात्मा है, इत्यादि न्यायकंदली में वर्णित है। (पृ० ५४)

महाभूतसृष्टि से पहिले यदि ईश्वर थे तो उनका शरीर क्या था, किस वस्तु का था—इस विषय में मत भेद है। अधिक ग्रन्थकारों का मत है कि शरीर की उत्पत्ति में आत्मा ही का धर्म अधर्म कारण होता है। ईश्वर को धर्म अधर्म नहीं। अतएव इनका शरीर भी नहीं हो सकता। कर्ता होने में शरीर का होना आवश्यक नहीं है (न्यायकंदली पृ० ५६)। कई ग्रन्थकारों का मत है कि संसार के जीवो

के धर्म अधर्म द्वारा ईश्वर शरीर ग्रहण करते हैं"–येही शरीर नाना प्रकार के अवतारों में कहे जाते हैं। किसी के मत से परमाणु ही ईश्वर के शरीर हैं। कुछ लोग आकाश को ईश्वर का शरीर कहते हैं।

मन

नवम द्रव्य मन है। हम बहुधा ऐसा देखते हैं कि इन्द्रियों के व्यापार रहते हुए भी उस इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता है। जैसे मेरी आंखें खुली हुई हैं, घोड़ा भी मेरे सामने खड़ा है। पर मुझे घोड़े का ज्ञान नहीं होता-मैं घोड़े को नहीं देखता। इससे यह सूचित होता है कि वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई और भी पदार्थ है जिसके व्यापार बिना ज्ञान नहीं हो सकता। फिर जिस वस्तु को मैंने आज देखा उसका स्मरण मुझे कुछ दिन बाद होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस स्मरण का भी करण कोई दूसराही है। यह करण,इन्द्रिय, वाह्य इन्द्रियों में से कोई नहीं होसकता। इससे एक आभ्यन्तर करण-अन्तःकरण. मानना आवश्यक है। इसी अन्तःकरण का नाम 'मन' है। मन 'इन्द्रिय' है ऐसा सूत्रों में नहीं कहा है। पर मनको प्रशस्तपाद भाष्य में 'करण' कहा है।

मन के गुण हैं–संख्या,परिमाण, पृथक्त्व,संयोग,विभाग, परत्व, अपरत्व.संस्कार। भिन्न भिन्न शरीर का व्यापार भिन्न भिन्न होता है इससे प्रति शरीर में एक एक भिन्न मन है। मन को वैशेषिकों ने अणु अति सूक्ष्म माना है। मनका संयोग सभी ज्ञान में आवश्यक होता है। यदि मन अणु न होता तो एक काल में अनेक ज्ञान एक आदमी को हो सकते। क्योंकि एकही काल में दो चार इन्द्रियों का संयोग मन से हो सकता। और इन संयोगों से इन सब इन्द्रियों द्वारा ज्ञान एकही क्षण में हो सकता। पर ऐसा होता नहीं है। एक क्षण में एकही ज्ञान होता है। इससे यह सूचित होता है कि एक क्षण में एकही इन्द्रिय का संयोग मन के साथ हो सकता है और यह तभी सम्भव है जब कि मन अणु है। इसी कारण से एक शरीर में एकही मन मानते हैं (सूत्र ३-२-३)।

मन नित्य है (सूत्र ३-२-२), मूर्त है, क्योंकि बिना मूर्ति के क्रिया नहीं हो सकती।

दूसरा पदार्थ-'गुण'

जो द्रव्य में हो-जिसका अपना कोई गुण न हो-जो संयोग या विभाग का कारण न हो सके-वही गुण है (सूत्र १-१-१६)। जितने गुण हैं सभों में गुणत्व जाति है-वे सब द्रव्यों ही में पाये जाते हैं। उनके कोई गुण नहीं होते। उन में कोई क्रिया, चलनादि, नहीं पाई जाती (प्रशस्तपाद पृ. ६४)।

द्रव्य से गुण का मुख्य भेद यही है कि द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है-गुण स्वयं आश्रय नहीं होसकता और बिना किसी द्रव्य के आश्रय से रह भी नहीं सकता। गुण और कर्म का भेद इतना साफ नहीं है। सूत्रकार के लक्षणों से दोनों में इतनाही फरक मालूम होता है कि कर्म संयोग विभाग का कारण होता है, गुण नहीं। एक द्रव्य(घोड़ा) के चलन रूप कर्म से घोड़ा एक जगह छोड़ कर दूसरी जगह जाता है, अर्थात् एक जगह से उसका विभाग और दूसरी जगह से उसका संयोग चलनकर्म द्वारा होता है। दूसरा भेद यह मालूम होता है कि कर्म जितना है सब क्षणिक है, कुछही काल तक एक द्रव्य में रहता है, पर द्रव्य के गुण उसमें जब तक द्रव्य रहता है, या जब तक कोई दूसरा विरोधी गुण न उत्पन्न होजाय, तब तक बने रहते हैं।

सूत्र में १७ गुण बताये हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न। (सूत्र १-१-६)। प्रशस्तपाद भाष्य में ६ और बतलाये हैं-गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, शब्द। इन में 'अदृष्ट' शब्द से धर्म अधर्म ये दो विवक्षित हैं। इससे २४ गुण हुए। और जितने गुण हो सकते हैं वे सब इन्हीं २४ के अन्तर्गत हैं।

गुण को निर्गुण बतलाया है (सूत्र १-१-१६)। फिर २४ गुण हैं-इसमें गुण की संख्या बतलाते हैं-संख्या एक गुण है, फिर गुण निर्गुण कैसे हुए ? पर सूत्र में गुण १७ हैं ऐसा नहीं कहा है-केवल इतनाही कहा है कि ये ये गुण हैं। परन्तु भाष्य में स्पष्ट कहा है कि सूत्र में १७ गुण कहे हैं। इसका समाधान करने का प्रयत्न न्यायकंदली में किया गया है (पृ० ११)। "यद्यपि गुण निर्गुण हैं

तथापि 'गुण चौबीस हैं' ऐसा कहा है-इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गुण में संख्यारूप एक गुण हैं। तात्पर्य इतनाही है कि जितने गुण हैं उनमें असाधारण धर्म वाले, अर्थात् जो किसी और गुण में अन्तर्गत नहीं किए जा सकते, २४, हैं। इस व्याख्या से असल शंका का समाधान नहीं होता। जब गुण २४ है तो फिर संख्या गुण में कैसे नहीं हुई ? जब गुणों का गिनाना आरम्भ हुआ तभी उनमें संख्या का होना आवश्यक हुआ।

जैसे द्रव्यों में साधर्म्य-समान धर्मवत्त्व-का निरूपण हुआ है वैसे ही वैशेषिकों ने गुणों मे भी किया है। (१) जितने गुण हैं सभी में 'गुणत्व' जाति है। सब द्रव्यों में आश्रित रहते हैं-सभी निर्गुण हैं-सभी में कोई क्रिया नहीं है-अर्थात् किसी भी गुण में चलन रूप क्रिया नहीं पाई जाती। (२) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग—ये 'मूर्त' गुण कहलाते है। अर्थात् ये उन्हीं द्रव्यों में पाये जाते है जिनकी मूर्ति है—जिनका स्थूल रूप होता है—अर्थात् पृथ्वी जल वायु अग्नि और मनस इन्हीं में ये गुण पाये जाते है। (३) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार और शब्द—ये 'अमूर्त' गुण है। अर्थात् ये उन्हीं द्रव्यों में पाये जाते है जिनका स्थूल रूप नहीं है। ये केवल आत्मा और आकाश में पाये जाते है। (४) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये गुण मूर्त अमूर्त सभी द्रव्यों में पाये जाते है। (५) संयोग, विभाग, द्वित्व, द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व इत्यादि अनेक द्रव्यों में रहते है। अर्थात् ये कभी एकही द्रव्य में नहीं रह सकते। संयोग जब होगा तब दो या अधिक चीजों में। (६) इनके अतिरिक्त जितने गुण हैं, सब एक एक द्रव्य में पाये जाते हैं। (७) रूप, रस गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व (स्वाभाविक)—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, शब्द ये 'वैशेषिक गुण' या 'विशेष गुण' कहलाते है। अर्थात् ये ऐसे गुण है जिनके द्वारा एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग समझी जाती है। इन्हीं गुणों के द्वारा द्रव्य एक दूसरे से अलग समझे जाते हैं। जैसे जब दो वस्तुओं में दो तरह का रूप, या रस या गन्ध इत्यादि पाया जाता है तभी एक का दूसरे से भेद समझा जाता है। इन्हीं गुणों के द्वारा वस्तुओं का 'विशेषण,' 'व्यवच्छेद'

होता है। इससे ये 'विशेष गुण' कहलाते हैं। (८) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (नैमित्तिक) वेग—ये 'सामान्य गुण' हैं, ये अनेक द्रव्यों में रहते हैं। इनके द्वारा द्रव्य एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, इन के द्वारा अनेक द्रव्य एक साथ समझे जाते हैं, जैसे संयोग के द्वारा दो या अधिक संयुक्त द्रव्यों का ज्ञान होता है। (९) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये एक एक कर एक बाह्य इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। शब्द का ग्रहण केवल श्रवण इन्द्रिय से होता है, स्पर्श का त्वक से, रूप का आँख से, गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से। इनका ग्रहण दूसरे इन्द्रियों से नहीं हो सकता। (१०) संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग—इनका ग्रहण दो इन्द्रियों से होता है। इनका ग्रहण त्वचा और आँख से होता है। (११) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—इनका ग्रहण अन्तःकरण मन से होता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसका अनुमान ही होता है। पर वैशेषिकों के मत में इसका प्रत्यक्ष ही होता है। (१२) गुरुत्व, धर्म, अधर्म, संस्कार—ये अतीन्द्रिय हैं, इनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, इनका अनुमान होता है। (१३) वे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श जो अग्नि संयोग से नहीं उत्पन्न होते, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, द्रवत्व, पृथक्त्व, स्नेह, वेग—ये 'कारणगुणपूर्वक' हैं। जिस किसी वस्तु में ये गुण पाये जाते हैं, उस वस्तु के कारण में, उनके परमाणुओं में, ये गुण रहते हैं, उसी के अनुसार उन द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। जल के परमाणु में द्रवत्व है इसी से कुएं के पानी में भी वह गुण पाया जाता है। मिट्टी के ढेले में जो गन्ध है उसके परमाणुओं में ही वह है। (१४) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, और शब्द-ये 'अकारणगुणपूर्वक हैं', जिन द्रव्य में ये होते हैं उनमें स्वयं रहते हैं उसके कारण में नहीं। आत्मा में जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह आत्मा के कारण में नहीं है। इसका कारण यह है कि जिन द्रव्यों में ये गुण पाये जाते हैं वे अमूर्त हैं, केवल आत्मा और आकाश में ये गुण हैं, इन द्रव्यों का कारण नहीं होता, इस से इनके गुण इनके कारण में हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। (१५)

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा,द्वेष,प्रयत्न,धर्म,अधर्म,संस्कार शब्द जो परिमाण रूई के ढेर में पाया जाता है—एक संयोग से जो दूसरा संयोग उत्पन्न होता है, द्रवत्व [नैमित्तिक], परत्व, अपरत्व-ये सब संयोगज हैं, दो द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि से लेकर संस्कार तक जितने कहे गये हैं वे आत्मा—मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं, शब्द आकाश और ढोल के संयोग से, इत्यादि। (१६) संयोग और विभाग कर्म, चलनक्रिया, से उत्पन्न होते हैं। (१७) शब्द और एक विभाग से उत्पन्न जो विभाग होता है-ये 'विभागज' कहलाते हैं, इनकी उत्पत्ति किसी तरह के विभाग ही से होती है। (१८) परत्व,अपरत्व,द्वित्व,पृथक्त्व, इत्यादि 'बुद्ध्यपेक्ष' हैं-ज्ञानही के द्वारा इनकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् जब दो चीजों को कोई आदमी एक दूसरे से अलग समझता है तब इसी ज्ञान से उन चीजों में 'परत्व' गुण उत्पन्न होता है। (१९) रूप,रस,गन्ध,जो स्पर्श गरम नहीं होता,शब्द,.परिमाण एकत्व,एक पृथक्त्व,और स्नेह, ये अपने सदृश गुण उत्पन्न करते हैं। (२०) सुख.दुःख,इच्छा,द्वेष. प्रयत्न-ये असदृश (अपने से दूसरी तरह के) गुण उत्पन्न करते हैं। कारण का रूप कार्य का रूप उत्पन्न करता है, मिट्टी में जो रूप रहता है उससे घट का रूप बनता है। पर सुख से सुख नहीं उत्पन्न होता है। सुख से इच्छा उत्पन्न होती है प्रयत्न से कर्म उत्पन्न होता है। (२१) संयोग विभाग, संख्या,गुरुत्व,द्रवत्व,गरम स्पर्श. ज्ञान,धर्म, संस्कार-ये अपने सदृश और अपने असदृश दोनों तरह के गुण उत्पन्न करते हैं। जैसे बांस के फटने से, उसके दलोंके विभाग से,शब्द उत्पन्न होता है और जब हम अपना हाथ किसी चीज पर से हटा लेते हैं तब हमारे हाथ के विभाग से हमारे शरीर का विभाग भी उत्पन्न होता है। धर्म से धर्म और सुख दोनों उत्पन्न होते है। (२२) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संस्कार, शब्द-ये उन्हीं गुणों को उत्पन्न करते हैं जो उनके अपने ही आश्रय में रहें। जैसे किसी आत्मा में सुख रहता है वह सुख उसी आत्मा में इच्छा उत्पन्न करता है। (२३) रूप. रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह, प्रयत्न—ये अपने आश्रय से दूसरी चीजों में गुण उत्पन्न करते हैं। जैसे मिट्टी के ढेले का गुण घट में रूप उत्पन्न

करता है । (२४) संयोग, विभाग, संख्या, एकपृथक्त्व, गुरुत्व द्रवत्व, वेग, धर्म, अधर्म-ये अपने आश्रय में भी और दूसरी चीजों में भी गुण उत्पन्न करते हैं । जैसे गाड़ी के अवयवों का वेग उन्हीं अवयवों में और वेग उत्पन्न करता है और गाड़ी में गमन क्रिया उत्पन्न करता है । (२५) गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संयोग—ये पतनादि क्रिया उत्पन्न करते हैं । उपर से जब चीज गिरती है उस गिरने का कारण उस वस्तु का गुरुत्व है । (२६) रूप, रस, गन्ध, अनुष्णस्पर्श, संख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, स्नेह शब्द-ये असमवायिकारण होते हैं । जैसे सुख का समवायि कारण है आत्मा और उसका असमवायिकारण है आत्मा, मनस का संयोग । (२७) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार-ये निमित्त कारण होते हैं । (२८) संयोग, विभाग, उष्णस्पर्श गुरुत्व, द्रवत्व, वेग-ये असमवायि कारण भी होते हैं और निमित्त कारण भी। जैसे ढोल और लकड़ी का संयोग शब्द का निमित्त कारण और ढोल आकाश के संयोग का असमवायिकारण होता है । (२९) परत्व, अपरत्व द्वित्व, द्विपृथक-ये किसी तरह के कारण नहीं होते । (३०) संयोग विभाग, शब्द, और आत्मा के विशेष गुण-ये अपने आश्रय के किसी एक भाग में रहते हैं । जैसे घड़ा और पृथिवी का संयोग घड़े की पेंदी में और पृथिवी के उसी छोटे हिस्से में रहता है । (३१) इनके अतिरिक्त जितने गुण हैं वे अपने अपने आश्रय के समग्र भाग में रहते हैं। (३२) जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अग्नि के संयोग से नहीं उत्पन्न होते परिमाण-एकत्व-एक पृथक-स्वाभाविकद्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह, ये जब तक इनके आश्रय रहते हैं तब तक बराबर रहते हैं । जब तक फूल रहता है तब तक उसका रंग रहता है । (३३) बाकी गुण आश्रयों के रहते भी नष्ट हो जाते हैं । जैसे अग्नि के संयोग से जो लोहे में लाल रंग होजाता है वह लोहे के रहते ही आग के हट जाने से नष्ट हो जाता है । (३४) जितने गुण हैं सभी में परस्पर वैधर्म्य यही है कि अपना अपना उनका स्वभाव पृथक् पृथक् होता है इससे उनके नाम भी 'रूप' 'रस' इत्यादि अलग अलग होते हैं ।

प्रशस्तपादभाष्य में पृथक् पृथक् गुणों का निरूपण किया है—

इसका संक्षेप से कुछ हाल लिखना यहां पर आवश्यक है—

रूप (रंग)

गुणों में रूप का प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय (आंख)से होताहै। पृथ्वी जल, अग्नि इन्हीं तीनों द्रव्यों के देखने में रूप आंख का सहकारी होता है। रूप के देखे जाने में चार बातों की आवश्यकता है। (१) जिस वस्तु का वह रूप है उसका परिमाण महत् हो। इसी कारण से सूक्ष्म परमाणु का रूप नहीं देखा जाता। (२) रूप व्यक्त होना चाहिये। चक्षुरिन्द्रिय तैजस (अग्नि की बनी हुई) है इसमें इसका रूप श्वेत अवश्य है परन्तु व्यक्त न होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता। (३) रूप अनभिभूत रहना चाहिये। अर्थात् वह किसी प्रबल गुणान्तर से दबा न हो। जैसे मामूली अग्नि का श्वेत रंग उसमें मिले हुए पार्थिव अंश के रूपान्तर से ऐसा दबा रहता है कि हम उसे उजले के बदले लाल देखते हैं। (४) रूपत्व जाति। शब्द स्पर्श इत्यादि गुण आंख से नहीं देखे जाते, इसमें कारण यदि पूछा जाय तो यही कहा जा सकता है कि इनमें रूपत्व जाति नहीं है।

रंग कै प्रकार का है सो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं गिनाया है। शुक्ल आदि अनेक प्रकार के रंग हैं—प्रशस्तपाद ने इतना ही कहा है। तर्कसंग्रह में सात गिनाये हैं-शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, और चित्र। कुछ लोग चित्र रूप को एक रूप नहीं मानते क्यों कि रूप व्याप्यवृत्ति गुण है। अर्थात् जिस वस्तु में रहता है वह चीज समूची उसी रंग की रहती है। और चित्र रूप वाली वस्तु में कोई भी एक रंग समूची वस्तु में नहीं रहता।

और गुणों की तरह रूप भी नित्य द्रव्य में नित्य और अनित्य द्रव्य में अनित्य रहता है। ऐसा सूत्र ७।१।२-३ में कहा है। पर सूत्र ४ में कहा है कि नित्य जल, अग्नि, परमाणु का रूप नित्य है। परन्तु नित्य पृथ्वी परमाणु का भी रूप अनित्य होता है—ऐसा सूत्र ६ में कहा है। इस का कारण यह है कि पार्थिव जितनी वस्तुएं हैं उनका रंग अग्नि संयोग से बदलता है। इसी से पृथ्वी का रूप "पाकज" कहलाता है। घट का दृष्टान्त ले कर तो यह समझना सहज है। क्यों कि कच्चा घट काला रहता है और पकाने पर लाल हो जाता है। परन्तु पृथ्वी मात्र के रूप को पाकज मानना उतना

सहज नहीं है। खेत में जो ढेला पड़ा है उसका भी रंग पाकज है सो कैसे कहा जा सकता है। यदि कहें कि सूर्य की किरण में जो अग्नि है उसी अग्नि के संयोग से उस ढेले में भी रंग उत्पन्न हो गया है तो ऐसा तो जल वायु सभी के रंग के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है।

जितने कार्य्यद्रव्य हैं उनका रूप कारणगुणपूर्वक माना गया है। अर्थात् घड़े में जो लाल रंग उत्पन्न होता है सो उसके परमाणुओं में उत्पन्न होने ही से उत्पन्न होता है। इस प्रसङ्ग में दो मत पाए जाते हैं। एक है 'पीलु पाक' दर्शन जिसका सिद्धान्त है कि कच्चा घड़ा जब आग मे डाला जाता है तब उसका एक रंग नाश हो जाता है अग्नि के व्यपार से परमाणु सब विलग विलग हो जाते हैं और फिर केवल कच्चे पृथ्वी परमाणु रह जाते हैं। तब इन परमाणुओं में अग्नि के संयोग से काले रंग का नाश हो जाता है और दूसरा लाल रंग उत्पन्न होता है और ये परमाणु परस्पर मिलते हैं जिसमें द्व्यणुकादिक्रम से फिर एक लाल रंग का घट उत्पन्न हो जाता है। 'पीलु' कहते हैं परमाणु को और इस मत में परमाणुओं ही का पाक माना गया है इससे इसको 'पीलु पाक मत' में कहा है। (प्रशस्तपाद १०६)। दूसरा 'पिठर पाक' मत है। इसमें घट का नाश नहीं माना गया है।अग्निसंयोग से भी घट ज्यों का त्यों बना रहता है केवल उसके छिद्रों के द्वारा गरमी प्रवेश कर के परमाणुओं के रंग को बदल देती है। इस मतवालों का यह कहना है कि यदि कच्चा घट नष्ट होकर दूसरा घट उत्पन्न हुआ माना जाय तो यह 'घट वही है जिसको मैने कच्चा देखा था' यह बुद्धि जो होती है सो अशुद्ध होती है, ऐसा मानना पड़ेगा। प्रशस्तपादभाष्य (पृ०१०४) में कहा है कि रूप का नाश कार्य द्रव्यों में आश्रय के नाश ही से होता है। इसके अनुसार 'पीलु पाक ही मत सत्य है। क्योंकि जब तक कच्चे घट का नाश नहीं होगा तब तक उसके काले रंग का नाश कैसे हो सकता है। जब तक काले रंग का नाश नहीं होगा तब तक उसी द्रव्य में लाल रंग की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

वैशेषिकों ने पीलुपाक ही मत को स्वीकार किया है। प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० १०७) में पिठरपाक मत का निराकरण किया है।

जब तक समूचा घट बना है तब तक उसके कुल अंश में आग का ज़ोर नहीं पहुंच सकता, और जब तक कुल परमाणु आग से स्पृष्ट न होंगे तब तक उनका रंग नहीं बदल सकता। यदि परमाणुओं के बीच में आग का प्रवेश माना जाय तो परमाणु जब तक एक दूसरे से पृथक् न हो जांय तब तक उनके बीच मे आग का पहुंचना सम्भव नहीं है। और जब परमाणु परस्पर विभक्त हो गये तब समूचे घट का रहना असम्भव है। परमाणुओं के बिलग होने ही से घट चूर चूर हो जाता है।

पिठर-पाक-वादी नैयायिक हैं। यही एक प्रधान विषय है जिससे न्याय और वैशेषिक पृथक माने गये हैं। इनका कहना है कि यदि कच्चे घट का एक दम नाश हो गया तो जब घट पक कर लाल हो जाता है तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'यह वही घट है जिसको मैंने आग मे डाला था'। क्योंकि जिसको आग मे डाला वह तो नष्ट हो गया, उसके स्थान मे दूसरा लाल रंग का घट उत्पन्न हो गया। पर इसका समाधान यह है कि दूसरा घट जो उत्पन्न हुआ सो पहिले से इतना मिलता हुआ पैदा हुआ कि इन दोनों का भेद मालूम नहीं होता इसीसे 'यह वही घट है' ऐसा भान होता है।

पीलुपाक वाद का मानना वैशेषिकमतावलम्बी का एक प्रधान चिह्न कहा गया है।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः।

रस (दूसरा गुण)

रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय जिह्वा से होता है, यह पृथ्वी जल इन द्रव्यों में रहता है, जिह्वा की मदद करता है, प्राणधारण, बल, आरोग्य पुष्टि इनका कारण है। मधुर (चीनी में) अम्ल (खट्टा) (नीबू में), लवण (नमक का), तिक्त (तीता) (नीम में), कटु (कड़ुआ) (मिर्चा में), और कषाय (आवला में) छ प्रकार का रस होता है। यह भी रूप की तरह नित्य अनित्य दोनो है। जल परमाणु का रस नित्य और पृथ्वी परमाणु में अनित्य है, क्योंकि पार्थिव चीज़ का रस अग्नि संयोग से बदल जाता है।

इसमें भी पीलु पाक ही का भ्रम है। परमाणुओं से अतिरिक्त स्थूल द्रव्यों का रस अनित्य है क्योंकि उन द्रव्यों के नाश से इनके रस का भी नाश हो जाता है।

गन्ध (३)

गन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से होता है। यह पृथ्वी ही में रहता है। घ्राणेन्द्रिय की उसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने में मदद करता है। गन्ध नित्य नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी परमाणु ही इसका नित्य आश्रय है, तिस में भी यह अग्नि संयोग से नष्ट हो जाता है, फिर यह नित्य कहाँ रह सकता। इसी से रूप के सदृश नित्यानित्यत्व इसका भी है, सो प्रशस्तपाद ने नहीं कहा। केवल इतना ही कहा है कि इसकी 'उत्पत्त्यादि वैसी ही होती है'। अर्थात् जैसे पृथ्वी परमाणु में रूप अग्निसंयोग से नष्ट और उत्पन्न होता है उसी तरह गन्ध भी। (न्यायकंदली पृ. १०६)।

गन्ध दो प्रकार का है-सुगन्ध और दुर्गन्ध।

स्पर्श (४)

स्पर्श का ज्ञान त्वगिन्द्रिय से होता है। पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन द्रव्यों में यह रहता है। त्वगिन्द्रिय द्वारा जितने प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं उन सभों में उस इन्द्रिय की मदद करता है। जिस जिस द्रव्य में रूप है वहां स्पर्श अवश्य है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जहां स्पर्श है वहां रूप अवश्य है। क्योंकि वायु में स्पर्श है पर रूप नहीं। वैशेषिकों ने तीन प्रकार का स्पर्श माना है—शीत (ठंढा) उष्ण (गरम) अनुष्णाशीत (न ठंढा न गरम)। महाभारत में १२ प्रकार का स्पर्श कहा है—

रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धश्च विशदः खरः।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छलो दारुणो मृदुः॥

स्पर्श को 'वायव्य' (वायु का) गुण इस लिये कहा है कि रूपादि जो प्रधान गुण हैं उनमें से स्पर्श ही एक गुण पाया जाता है जो वायु ही में है।

स्पर्श भी नित्य वस्तु में, जलादि परमाणु में, नित्य है, और सर्वत्र अनित्य है। आश्रय के नाश से इसका भी नाश होता है।

पृथिवी के परमाणु में भी यह अनित्य है क्योंकि अग्निसंयोग से स्पर्श का उसमें नाश और उत्पत्ति होती है। नाश-उत्पत्ति इसमें भी पिलुपाक ही का क्रम है।

संख्या (५)

'एक दो तीन' इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा होता है उस गुण को 'संख्या' कहते हैं। पृथिव्यादि नवों द्रव्य में यह गुण रहता है। संख्या एक द्रव्य में भी रहती है और अनेक द्रव्य में भी। एकत्व संख्या नित्य वस्तुओं में नित्य है और अनित्य कार्यद्रव्य की एकत्व संख्या अनित्य है। एक से आगे 'द्वित्व' से लेकर परार्ध तक सब संख्याएं अनित्य हैं।

संख्या 'सामान्य' गुणों में से एक है। अर्थात् रूप रस आदि की तरह ऐसा नहीं कि जो रूप एक द्रव्य में है वही रूप दूसरे द्रव्य में नहीं हो सकता। एक ही संख्या—एक, या दो, या तीन—एक ही काल में कई द्रव्यों में रह सकती है। संख्या परिमाण इत्यादि कई गुण ऐसे ही हैं इसका कारण यह है कि जिस तरह रूप रस गन्ध इत्यादि गुण की 'बाह्य' 'संज्ञा' होती है—अर्थात् बाहर में पाये जाते हैं वैसे ही संख्यादि नहीं पाये जाते। इन गुणों की सत्ता ज्ञाता की बुद्धि ही पर निर्भर है। इसी से वैशेषिकों ने द्वित्यादि संख्या को 'अपेक्षाबुद्धिजन्य' बतलाया है। जब कोई चीज़ आंख के सामने आती है तब पहिले देखने वाले को सब का ज्ञान एक ही दम नहीं हो जाता है—पहिले एक एक का ज्ञान होता है—'यह एक है' 'वह एक है' इत्यादि—इसी कई एकत्त्व के ज्ञान को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। और जब दो एकत्व का ज्ञान होता है उसी ज्ञान से 'ये दो चीजें' ऐसा ज्ञान होता है। इसी से द्वित्व की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से मानी गई है। और जब अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है--अर्थात् जब कि 'वह एक है--यह एक है' ऐसा ज्ञान दो चीज़ों के प्रसंग में नहीं रहता तब "ये दो चीजें है" यह ज्ञान भी नहीं रहता—अर्थात् द्वित्व नष्ट हो जाता है।

अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है इसी से द्वित्वादि संख्या कुल अनित्य हैं। जो जन्य है, जिसकी उत्पत्ति होती है, वह नित्य नहीं हो सकता।

यह भी नैयायिक वैशेषिक के मतभेद का एक स्थान है—

वैशेषिक में द्वित्यादि संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्य है, अपेक्षाबुद्धि से इन की उत्पत्ति होती है। नैयायिकों के मत से ये उत्पन्न नहीं होते, अपेक्षा बुद्धि से केवल इन संख्याओं का ज्ञान होता है इस से ये 'अपेक्षाबुद्धिज्ञाप्य' है। वैशेषिकों के मत से द्वित्यादि संख्याओं की एक स्वयं स्वतंत्र संज्ञा होती है, न्याय मत में इनकी स्वतंत्र पृथक् संज्ञा नहीं है। एकत्व ही के अन्तर्गत ये सब हैं। जब कई एकत्व का ज्ञान होता है तब द्वित्वादि संख्या का ज्ञान मात्र होता है, ये स्वयं नहीं उत्पन्न होते।

परिमाण (६)

नाप जिस गुण के द्वारा होती है उसको 'परिमाण' कहते हैं। यह गुण पृथ्वी आदि नवों द्रव्यों में रहता है । यह चार प्रकार का है—अणु [छोटा], महत् [बड़ा], दीर्घ [लम्बा], ह्रस्व [नाटा]। 'बड़ा' दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य । आकाश कालदिक् आत्मा—ये सब 'बड़े' और नित्य हैं, इस से 'बड़ा' परिमाण नित्य है, इसी को 'उत्तम बड़ा' भी कहते हैं। अनित्य बड़ा परिमाण त्र्यणुक से लेकर और सब स्थूल द्रव्यों में है, इसी को 'मध्यम' बड़ा परिमाण भी कहते हैं। इसी तरह 'छोटे' परिमाण भी परमाणु में और मन में नित्य हैं, इसी नित्य 'छोटे' परिमाण को अणुपरिमाण, या 'पारिमंडल्य' भी कहा है। अनित्य या 'मध्यम छोटा परिमाण केवल द्व्यणुक द्रव्य में है। द्व्यणुक का परिमाण 'छोटा' मा ग हैं क्योंकि द्व्यणुक का प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्ष उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनमें 'महत्' या 'बड़ा' परिमाण है। मामूली पदार्थों में, आम, बैर, कटहल इत्यादि में जो 'छोटा' परिमाण कहा जाता है सो ठीक नहीं। क्योंकि जिस में 'छोटा' परिमाण रहेगा उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इससे 'बैर छोटा' है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बैर में 'छोटा' परिमाण है, अर्थ इतना ही है कि बैर में जो 'बड़ा' परिमाण है वह और बड़े बड़े फलों के सामने कुछ कम है! इसी तरह 'लम्बा' और 'नाटा' परिमाण भी समझना चाहिये।

परिमाण दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। नित्य की

तो उत्पत्ति नहीं होती। अनित्य परिमाण की उत्पत्ति तीन तरह से होती है-(१) संख्या से-द्व्यणुक में जो 'बड़ा' परिमाण उत्पन्न होता है सो द्व्यणुकों की संख्याही से होता है। तीन द्व्यणुकों के एकत्र होने से त्र्यणुक बनता है। (२) परिमाण से-जैसे बड़े बड़े सूतों से बुना हुआ कपड़ा बड़ा होता है। यहां पर कपड़े का परिमाण सूतों के परिमाण से उत्पन्न हुआ। (३) प्रचय या ढेरी से उत्पन्न-जैसे रूई के ढेर के ऊपर ढेर रक्खे जाते हैं तो थोड़ी देर में सब ढेर मिल कर एक बहुत बड़ा ढेर बन जाता है। इस बड़े ढेर का 'बड़ा' परिणाम कई ढेरों के मिलने से उत्पन्न हुआ।

उत्पन्न, अनित्य जितने परिमाण हैं उनका नाश तभी होगा जब जिस द्रव्य में वे हैं उसका नाश हो।

पृथक्त्व (७)

इस वस्तु का स्वभाव उस वस्तु के स्वभाव से दूसरी तरह का है यह बुद्धि जिस गुण के द्वारा होती है उसको पृथक्त्व कहते हैं। 'पृथक' और 'अन्योन्याभाव' में यह भेद है कि अन्योन्याभाव से 'घटपट नहीं है'-इससे घट क्या नहीं है इतनाही बोध होता है परन्तु पृथक्त्व के द्वारा जो वस्तु पृथक् कही जाती है उसके स्वभाव लक्षण का भी कुछ ज्ञान होता है। और अन्योन्याभाव से केवल बुद्धि गत भेद भासित होता है, पृथक्त्व से बाह्य शारीरिक भेद।

यह एक द्रव्य में और अनेक द्रव्यों में भी रहता है। इसकी नित्यता अनित्यता संख्या की तरह है।

संयोग (८)

दो वस्तुएं जो पहिले से अलग थीं यदि एक दूसरे से मिल जाँय तो इसी मिलने को संयोग कहते हैं। संयोग से द्रव्य उत्पन्न होते हैं जैसे परमाणुओं के संयोग से घटादि द्रव्य। संयोग से गुण भी उत्पन्न होते हैं। जैसे अग्नि के संयोग से घट में रूप गुण पैदा होता है। संयोग से कर्म भी उत्पन्न होता है। जैसे वृक्ष की पत्तियों का वायु से संयोग होता है तब उन पत्तियों में चलनक्रिया उत्पन्न होती है।

संयोग कभी भी नित्य नहीं होता। इसीसे दो भिन्न नित्य पदार्थों का सम्बन्ध कभी संयोग नहीं होसकता। क्योंकि ये कभी

अलग नहीँ रह सकते फिर इनके सम्बन्ध में संयोग का लक्षण नहीँ पाया जा सकता ।

संयोग तीन प्रकार का है और तीन प्रकार से उत्पन्न होता है । (१) अन्यतरकर्मज–अर्थात् दो चीजों में से किसी एक की क्रिया से उत्पन्न–जैसे उड़ती हुई चिड़िया जब पेड़ पर आकर बैठ जाती हैं तब इन दोनों का संयोग चिड़िया की क्रिया से उत्पन्न हुआ । (२) उभयकर्मज–दोनों चीजों की क्रिया से उत्पन्न–जैसे दो भेड़ें दो तरफ़ से दौड़ कर आपस में टक्कर लड़ते हैं । इन दोनों का संयोग दोनों भेड़ों की क्रिया से उत्पन्न हुआ ।(३) संयोगज–संयोग से उत्पन्न–जैसे कपड़ा जब बुना जाता है तब एक सूत बुनने वाले यंत्र में लगाया गया तब उस तन्तु से उस यंत्र का संयोग हुआ फिर जब दो ऐसे ऐसे सूत मिल कर 'दोसूती' पैदा हुई तब तक वे उस यंत्र में लगे ही रहे, तब उस 'दोसूती' का जो संयोग उस यंत्र से है सो पहिले वाले सूत का जो उस यंत्र के साथ संयोग था इसी संयोग से उत्पन्न हुआ ।

संयोग का विनाश कभी तो संयुक्त वस्तुओं के अलग हो जानेसे होता है, जैसे जब लड़ते हुये भेड़े टक्कर लड़कर पीछे हट जाते हैं । और कभी संयुक्त वस्तुओं के नाश ही से, जैसे जब कपड़ा नष्ट हो जाता है तो उसके अन्तर्गत सूत्रों का संयोग भी नष्ट हो जाता है ।

संयोग अव्याप्य वृत्ति है । जिस वस्तु में रहता है उसके एकही अंश में रहता है, जैसे दो भेड़ों का संयोग केवल उनके सिरही पर रहता है, समस्त शरीर में नहीं ।

विभाग (६)

जब दो वस्तु मिली हुई हैं यदि वे अलग हो जायँ तो इसी अलग होने को विभाग कहते हैं । केवल संयोग के अभाव ही को 'विभाग' नहीं कहते । यदि ऐसा कहते तो संसार में जितनी चीजें अलग अलग हैं उन सभों में 'विभक्त' का व्यवहार होता, पर ऐसा नहीँ है । दो मिली हुई वस्तुओं ही के अलग होने को 'विभाग' कहा है । यह भी तीन प्रकार का है–(१) अन्यतर-कर्मज–पेड़ पर से जब चिड़िया उड़ जाती है तब पेड़ से चिड़िया का विभाग चिड़िया की क्रिया से होता है । (२) उभयकर्मज–

लड़ते हुए भेड़ जब लड़ कर दोनों पीछे हटते हैं" तब इन दोनों का विभाग दोनों के कर्म से होता है । (३) विभागज विभाग—जैसे घड़े के परमाणुओं मे जब चलन क्रिया उत्पन्न हुई तब एक परमाणु और परमाणुओं से अलग हो गया, फिर ये दोनों अलग हुये परमाणु जिस आकाश भाग से अलग हो जाते है, यह परमाणु का उस आकाश प्रदेश से विभाग दोनों परमाणुओं के परस्पर विभाग से उत्पन्न हुआ ।

नैयायिकों ने इस विभागज विभाग को नही माना है । इसका कारण यह है कि अवयवों से अवयव का (परमाणु का घट से) विभाग यदि माना जाय तो इनके बीच जो समवाय रूप नित्य सम्बन्ध माना गया वह कैसे हो सकता है । समवाय तो उन्हीं दो वस्तुओं के बीच रह सकता है जो कभी एक दूसरे मे अलग नहीं रह सकती है ।

इसका उत्तर प्रशास्तपादभाष्य (पृ. १५२) में दिया है कि 'कभी अलग नहीं' इसका अर्थ यह नहीं है कि अलग अलग चल न सकें, ऐसा समवाय तो केवल नित्य द्रव्यों ही में हो सकेगा । अनित्य द्रव्यों का 'समवाय' 'कभी अलग नहीं होने का अर्थ यह है कि ये कभी भी भिन्न भिन्न आश्रय में नहीं पाये जाते, जब पाए जांयगे तब एक ही आश्रय में। इसी प्रकार त्वागेन्द्रिय और शरीर का सम्बन्ध यद्यपि ऐसा है कि शरीर से अलग त्वगिन्द्रिय चल नहीं सकता तथापि इनका सम्बन्ध समवाय नहीं माना गया है, क्योंकि इनका आश्रय अलग अलग है। त्वगिन्द्रिय का आश्रय शरीर है और शरीर का आश्रय आकाश है ।

वैशेषिक सूत्र मे तीनों माना है (७ । २ । १०)

परत्व अपरत्व (१०—११)

जिन गुणों के द्वारा 'आगे पीछे' का ज्ञान होता है उनको 'परत्व' 'अपरत्व' कहते है । 'आगे' के ज्ञान का कारण अपरत्व है और पीछे के ज्ञान का कारण परत्व है । ये गुण पृथिवी, जल, वायु, तेज इन्हीं द्रव्यों में रहते है । क्योंकि ये ही द्रव्य परिमित प्रदेश में रहते है । नित्य विभु द्रव्यों में आगे पीछे का भेद नहीं हो सकता ।

परत्व अपरत्व दो प्रकार के होते है । कालसम्बन्धी और देशसम्बन्धी। दो वस्तुओं मे से जो मेरे नज़दीक होगी, जिसके और मेरे

बीच के देशका परिमाण मेरे और दूसरी वस्तु के बीच के देश से कम होगा तो वह वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा 'अपर' कहलायेगी और दूसरी वस्तु 'पर'। इसी तरह जिस वस्तु के उत्पन्न होने के काल से आज तक का समय दूसरी वस्तु की उत्पत्ति से आज तक के समय की अपेक्षा अधिक है तो वह वस्तु दूसरी वस्तु की अपेक्षा 'पर' (दूर) कहलावेगी और दूसरी वस्तु 'अपर' (नज़दीक) मानी जायगी।

देशसम्बन्धी परत्व अपरत्व के ज्ञान के द्वारा यह ज्ञान होता है कि कौन सी वस्तु किस दिशा में है। और कालसम्बन्धी परत्व अपरत्व के ज्ञान से यह ज्ञान होता है कि कौन सी वस्तु की क्या वय है।

परत्व अपरत्व के ज्ञान में भी अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा होती है। जब तक दो तीन वस्तुओं के प्रति ये पृथक् पृथक् एक एक वस्तु हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता तब तक कौन सा पर है और कौन सा अपर सो ज्ञान नहीं हो सकता। और इन गुणों की उत्पत्ति में देशसंयोग कालसंयोग की भी आवश्यकता है। इसीसे अपेक्षाबुद्धि के नाश से संयोग के नाश से और वस्तुओं ही के नाश से इन गुणों का नाश माना गयाहै (प्रशस्तपाद पृ० १६४)

सुख (१२)

(सूत्र और भाष्य में अपरत्व के बाद 'बुद्धि' कहा है। परन्तु बुद्धि के प्रकरण में प्रत्यक्षादि सकल प्रमाण का निरूपण होगा इससे सन्दर्भ में त्रुटि हो जायगी इससे बाकी सब गुणों का निरूपण करके अन्त में बुद्धि का विचार होगा।)

'सुख' का लक्षण सूत्र में कुछ नहीं पाया जाता। भाष्य में 'अनुग्रह लक्षणं सुखम्' ऐसा लक्षण कहा है, अर्थात् जिससे अनुभव करने वाले के ऊपर किसी की कृपा सूचित हो। ऐसा अर्थ कंदली में पाया जाता है। परंतु लक्षण न्यायबोधिनी का ठीक मालूम पड़ता है। जिसके पाने की इच्छा स्वतंत्र उसी के लिये होती है, वही सुख है। सुख की इच्छा किसी दूसरे वस्तु की इच्छा पर नहीं निर्भर है। संसार में जितनी चीज़ों के पाने की इच्छा हम करते हैं वह केवल उन वस्तुओं ही के पाने के लिये नहीं, किन्तु उन चीज़ों से जो कुछ सुख हमें मिलेगा उसी सुख की इच्छा से उन चीज़ों की

इच्छा करते हैं। सुख की इच्छा ऐसी नहीं है। सुख की इच्छा केवल सुख ही के लिये होती है।

माला चन्दन इत्यादि अभीष्ट वस्तु के पाने पर उन वस्तुओं का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है, फिर पूर्व जन्म कृत धर्म के ज़ोर से आत्मा मन का संयोग होता है, इन कारणों से एक चित्त में ऐसा भाव उत्पन्न होता है जिससे मनुष्य के चेहरे पर एक तरह का उजियाला छा जाता है। इसी भाव को 'सुख' कहते हैं। (प्रशस्तपाद. पृ. २५९)

वर्तमान जितनी चीज़ें हैं उनकी प्राप्ति से इस प्रकार सुख इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है। भूत वस्तुओं से सुख उनके स्मरण से ही होता है। और भविष्यत् वस्तुओं से सुख उनके प्रसंग संकल्प-पाने की इच्छा-करने से होता है। ज्ञानियों को जो केवल ध्यानादि से अपूर्व सुख मिलता है उसका कारण उनकी विद्या, ज्ञान, शम, सन्तोष और विशेष प्रकार का धर्म है।

दुःख (१३)

किसी तरह का अभिघात हानि जिससे सूचित हो उसी को दुःख कहते हैं। जिसका द्वेष स्वतंत्र उसी के द्वारा हो वही दुःख है। और चीज़ों पर द्वेष केवल उनके दुःख उत्पन्न करने पर निर्भर है। जब विष इत्यादि अनभिप्रेत वस्तु सामने आती है तब उस वस्तु का इन्द्रियों के साथ संयोग होता है, फिर पूर्व जन्म कृत अधर्म के द्वारा आत्मा मन का संयोग द्वारा एक ऐसा भाव चित्त में उत्पन्न होता है जिससे आदमी के चेहरे पर दीनता और मलिनता छा जाती है-इसी भाव को 'दुःख' कहते हैं। वर्तमान काल की वस्तु से दुःख प्रत्यक्ष होता है, भूत वस्तुओं से स्मृति द्वारा और भविष्यद् वस्तुओं से संकल्प द्वारा।

इच्छा (१४)

जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके मिलने के लिये जो प्रार्थना अपने लिये या दूसरे के लिये चित्त में उठती है-उसी को 'इच्छा' कहते हैं। जब किसी वस्तु के द्वारा सुख मिल चुका है तब जब कभी वह वस्तु सामने आती है या उसका स्मरण होता है तब उस

से प्राप्त सुख का भी स्मरण होता है, फिर आत्मा मन के संयोग से उस वस्तु के पाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, वही 'इच्छा' है । यह इच्छा स्वार्थ भी है-' मुझे यह वस्तु मिले,' और परार्थ भी ' फलाने आदमी को यह मिले ' । प्रयत्न, स्मरण, धर्म, अधर्म इतने इच्छा के फल होते हैं । जब किसी वस्तु के पाने की इच्छा होती है तब उसके पाने के लिये प्रयत्न किया जाता है । जब किसी वस्तु के स्मरण करने की इच्छा हुई तो उस वस्तु का स्मरण होता है । स्वर्ग पाने की इच्छा से यज्ञादि करने से धर्म उत्पन्न होता है । निषिद्ध कर्म के करने की इच्छा से अधर्म होता है ।

इच्छा अनेक प्रकार की है —

स्त्री सुख की इच्छा को 'काम' कहते हैं । भोजन की इच्छा को 'अभिलाष' । फिर फिर किसी वस्तु का सुख मिले ऐसी इच्छा को 'राग' कहते । जो वस्तु अभी नहीं है, आगे आने वाली है, उस वस्तु के अभी प्राप्त करने की इच्छा ' संकल्प, ' अपनी इच्छा का कुछ भी विचार न कर दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा 'कारुण्य,' वस्तुओं का दोष देखकर उन वस्तुओं को अपनी ओर से हटाने की इच्छा को 'वैराग्य' दूसरों को ठगने की इच्छा, 'उपधा' बाहर व्यक्त नहीं हुई मन ही में छिपी हुई इच्छा को 'भाव' किसी काम के करने की इच्छा को 'चिकीर्षा' कहते हैं. स्त्री की पुरुष विषयिणी इच्छा को भी, 'काम' कहते हैं । इस प्रकार इसके अनन्त भेद हैं ।

द्वेष (१६)

किसी वस्तु को देखकर या उसका स्मरण होने पर चित्त में जो जलन पैदा होती है इसी जलन को 'द्वेष' कहते हैं । जब किसी से अपने को दुःख पहुंचा है तब फिर जब कभी वह वस्तु सामने आती है या उसका स्मरण होता है तो उस दुःख का भी स्मरण होता है । फिर आत्मा मन के संयोग से द्वेष उत्पन्न होता है । यह भी इच्छा की तरह प्रयत्न स्मृति धर्म और अधर्म को उत्पन्न करता है । द्वेष भी कई प्रकार का होता है ।

प्रयत्न (१७)

' प्रयत्न ' कहते हैं संरम्भ को, उत्साह को । अर्थात् जब किसी

काम करने को चित्त उत्तेजित होता है इसी उतेजित उत्साहित होने को 'प्रयत्न' कहते हैं।

प्रयत्न दो प्रकार का है—(१) जीवनपूर्वक वह प्रयत्न है जिससे सोये हुये आदमी का श्वास पर श्वास चलता है, या जागते हुये आदमी का भी जिस प्रयत्न के द्वारा मन का संयोग इन्द्रियों के साथ हुआ करता है। इस प्रयत्न की उत्पत्ति धर्म अधर्म के द्वारा आत्मा मन के संयोग से होती है। (२) इच्छाद्वेषपूर्वक प्रयत्न वह है जिसके द्वारा इष्ट वस्तु के पाने के लिये और अनिष्ट वस्तु को दूर करने के लिये व्यापार किया जाता है। इसकी उत्पत्ति इच्छा या द्वेष के द्वारा आत्मा मन के संयोग से होती है।

गुरुत्व (१८)

जलीय और पार्थिव पदार्थ जिस गुण के द्वारा ऊपर से नीचे गिरते हैं उसी गुण को 'गुरुत्व' कहते हैं। इस गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। कोई वस्तु जब गिरती देख पड़ती है तब इसी गिरने से यह अनुमान किया जाता है कि इसमें गुरुत्व है क्योंकि बिना गुरुत्व के गिरना असम्भव है। संयोग प्रयत्न और वेग से इस गुण का व्यापार रोका जाता है। जैसे मकान की छत पर जब आदमी चढता है तब जो अपने गुरुत्व से वह नीचे नहीं गिर जाता इसका कारण यही है कि उस समय उस आदमी का छत के साथ संयोग है। शरीर खड़ा रहता है इस का कारण शरीर वाले का प्रयत्न ही है। धनुष से जब बाण छूटता है तब बाहर निकलते ही वह नहीं गिर जाता है इसमें कारण उस बाण का वेग ही है। ज्योंही वेग समाप्त होता है त्योंही बाण जमीन पर गिर पड़ता है। पृथिवी और जल परमाणु के गुरुत्व नित्य हैं और स्थूल वस्तुओं में अनित्य हैं। आश्रय विनाश ही से गुरुत्व का विनाश होता है।

द्रवत्व (१९)

जिस गुण के द्वारा वस्तुओं का स्यन्दन, बहना, होता है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि इन तीन द्रव्यों में द्रव्य रहता है। द्रवत्व दो प्रकार का है-सांसिद्धिक और स्वाभाविक।

और नैमित्तिक, किसी कारण से उत्पन्न । स्वाभाविक द्रवत्व केवल जल ही में है नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और जल में है ।

बर्फ का टुकड़ा यद्यपि जल का विकार है इसमें स्वाभाविक द्रवत्व है परंतु जल परमाणु अग्नि के संयोग से ऐसे परस्पर संयुक्त हो जाते हैं कि इस संयोग से जलपरमाणु का स्वाभाविक द्रवत्व तब तक रुक जाता है ।

पृथिवी और तेज में अग्नि संयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है । द्रवत्व की उत्पत्ति रूप की तरह होती है । अर्थात् किसी पार्थिव वस्तु में-लाह में-जब द्रवत्व उत्पन्न होगा तब अग्नि संयोग द्वारा उस वस्तु का नाश होगा फिर उस वस्तु के परमाणुओं में द्रवत्व उत्पन्न होगा-फिर द्रवत्व सहित परमाणुओं का संयोग होकर-फिर से द्रवत्वगुणवाली वस्तु उत्पन्न हो जायगी ।

स्नेह (२०)

स्नेह—चिकनाहट—जल का विशेष गुण है । यह वही गुण है जिसके द्वारा वस्तुओं का संग्रह (कई पिंडों का एक साथ मिलकर एक पिंड बन जाना), सफाई और कोमलता उत्पन्न होते हैं। यह भी परमाणुओं में नित्य और स्थूल वस्तुओं में अनित्य है—आश्रयनाश से इस का भी नाश होता है ।

संस्कार (२१)

संस्कार तीन प्रकार का होता है (१) वेग—(२) भावना—(३) स्थितिस्थापक ।

(१) इनमें से वेग-'तेजी'—पांचो मूर्त द्रव्यों में-पृथिवी जल वायु अग्नि और मन—में खास खास कारणों से उत्पन्न होता है । इससे द्रव्यों के संयोग का नाश होता है ।

(२) अनुभव—प्रत्यक्षादि-होने के बाद जो उन अनुभवों का कुछ अंश चित्त में रह जाता है-उसी के द्वारा उन अनुभूत वस्तुओं का स्मरण होता है और ये फिर पहिचाने जाते हैं । इसी को 'भावना' कहते हैं—उसका 'वासना' भी दूसरा नाम कहा गया है । सामान्यतः 'संस्कार' नाम से भी यही संस्कार प्रसिद्ध है । यह संस्कार केवल आत्मा में रहता है । बार बार जिस वस्तु का अनुभव होता है उससे उस वस्तु की भावना चित्त में बन जाती है । जिस

अनुभव का चित्त पर बड़ा असर पड़ता है उसकी भी भावना दृढ़ उत्पन्न होती है। जिस वस्तु के देखने की बड़ी अभिलाषा हो उस वस्तु को जब लोग देखलेते हैं तो इस अनुभव से भी दृढ वासना उत्पन्न होती है।

(३) स्थिति स्थापक संस्कार उस लपक (लचक) को कहतें हैं जिसके द्वारा रबड का टुकड़ा खीचे जाने के बाद फिर पुराने स्वरूप पर आजाता है। यह संस्कार उन्हीं द्रव्यों में रहता है जिन का स्पर्श होता है—पृथिवी जल वायु और अग्नि में। इसकी नित्यता अनित्यता गुरुत्व की तरह होती है।

अदृष्ट-धर्म-अधर्म (२२)

जो काम आदमी करता है वह भला या बुरा होता है। और हर एक काम के करने से उस आदमी के चित्त पर एक तरह का असर पड़ता है—इसी असर को 'अदृष्ट' कहा है क्योंकि यह देखा नहीं जा सकता। अच्छा काम करने से जो असर या संस्कार पैदा होता है उसको 'धर्म' कहते हैं और बुरे काम के असर को 'अधर्म'। ये दोनों मनुष्य के आत्मा के गुण हैं। क्योंकि कर्मों का असर शरीर पर नहीं रहता—शरीर नष्ट होजाने पर धर्म अधर्म का फल भुगता जाता है। इससे आत्माही के ये धर्म-अधर्म गुण माने गए हैं।

आदमी का प्रिय-हित सब वस्तु और मोक्ष धर्म से सिद्ध होता है। चरम ज्ञान से और चरम सुख से धर्म का नाश होता है, अर्थात् चरम सुख जब मिल गया तब सब धर्म का मानो फल प्राप्त हो चुका फिर और धर्म बाकी नहीं रह जाता। इसी तरह जब तक सुख उत्पन्न करनेवाले धर्म का कुछ भी लेश बाकी रह जायगा तब तक मोक्ष नहीं होगा। इससे जब मोक्ष होगा तब धर्म बाकी नहीं रहेगा।

धर्म के साधन भिन्न भिन्न जाति भिन्न भिन्न आश्रमों के लिये पृथक पृथक कहे गए हैं। श्रौतस्मृति में विहित-करने योग्य उपभोग के योग्य प्राप्त करने के योग्य-जितने द्रव्य गुण और कर्म हैं ये सब धर्म के साधन होते हैं। धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणियों

पर दया, सत्य बोलना, चोरी से बचना, इन्द्रियनिग्रह, छल न करना, क्रोध का रोकना, स्नान, पवित्र द्रव्य का भोजन पान, देवता विशेष पर भक्ति, उपवास, आचरण में सावधानी—ये सब मनुष्यों के लिये सामान्यधर्म के साधन होते हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिये यज्ञ करना, वेद पढ़ना दान करना, ब्राह्मणों के लिये इनके अतिरिक्त पढ़ाना और दान लेना, क्षत्रियों के लिये प्रजापालन, दुष्टों को दंड देना, युद्ध में डटे रहना, वैश्यों के लिये वाणिज्य, खेती, शूद्रों के लिये और वर्णों की सेवा, पृथक् पृथक् आश्रम के धर्म यों हैं। ब्रह्मचारी के लिये-गुरु के पास रहना, गुरु शुश्रूषा, सेवा, भिक्षाचरण, मद्य मांस स्त्री का वर्जन सब तरह की शानदारी से हटे रहना। गृहस्थ स्नातकों के लिये, विवाह, सद्वृत्ति से उपार्जित धन से अपने को और अपने कुटुम्ब को पालना, सब प्राणियों को और देवताओं को बलि देना, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, मनुष्ययज्ञ और भूतयज्ञ नित्य करना अग्निहोत्र इत्यादि। वानप्रस्थ के लिये, बनवास, वृक्ष की छाल पहिनना, बाल न काटना, बन में उत्पन्न पदार्थों ही से देव और अतिथि पूजन करके अपनी जीविका निवाहना। संन्यासी के लिये—सब जन्तुओं को अभय देना, यमनियमासनादिसेवन। ऊपर कहे हुए साधनों के द्वारा आत्मा मन के संयोग होने पर आत्मा में धर्म गुण उत्पन्न होता है।

अधर्म भी आत्मा का गुण है। करने वाले के अहित अप्रिय का कारण होता है। चरम दुःख और चरम ज्ञान से यह नष्ट होता है। शास्त्र में प्रतिषिद्ध जितने द्रव्यगुण कर्म हैं इनका सेवन अधर्म का कारण होता है। धर्म के जितने साधन कहे गये हैं उनके विरुद्ध जितने द्रव्यगुण कर्म हैं, वे अधर्म के कारण हैं। जैसे हिंसा, चोरी करना, शास्त्र विहित कर्म का न करना इत्यादि। इन कारणों के द्वारा आत्मा मन के संयोग से आत्मा में अधर्म गुण उत्पन्न होता है।

अदृष्ट, धर्माधर्म, संसार में जन्म का और संसार से मुक्ति का भी कारण होता है।

जब तक आदमी को असल ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक राग और द्वेष उसके चित्त में बने रहते हैं। ऐसा आदमी जब

अधिकतर धर्म करता है और थोड़ा सा अधर्म का अंश भी रहता है तब मरने पर ऐसे आदमी का आत्मा अपने अदृष्ट के अनुसार शरीर धारण करके ब्रह्मलोक में या इन्द्रलोक में या मनुष्य लोक ही में शरीर इन्द्रियों के द्वारा सुख भोग करता है। और जब इस के अधिक अधर्म और थोड़ा ही धर्म रहता है तब क्षुद्र जन्तुओं के शरीर में नाना प्रकार के दुःख भोग करता है । इसी तरह धर्म अधर्म के द्वारा आत्मा स्वर्ग लोक में या पृथिवी में सुख दुःख भोगने के लिये जन्मग्रहण करता है।

जब तत्त्वज्ञान प्राप्त होगया तब अज्ञान के नष्ट हो जाने से राग द्वेष भी नष्ट होजाते हैं। फिर इनके दूर होजाने से नया धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं होता। पहिले का जितना धर्म अधर्म है उनके फल का जब भोग समाप्त हो जाता है तब वे धर्म अधर्म भी नष्ट होजाते हैं। आगे सुख दुःख उत्पन्न करनेवाले धर्म अधर्म तो होते ही नहीं फिर किस वास्ते ऐसे आत्मा का जन्म होगा। फिर वर्तमान शरीर के नष्ट होजाने पर उसका जन्म नहीं होता। यही उस आत्मा का 'मोक्ष' हुआ।

शब्द (२३)

शब्द आकाश का गुण है। इसका प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। एक क्षणमात्र यह अवस्थित रहता है। इसका नाश इसी से उत्पन्न शब्दान्तर से होता है।

शब्द दो प्रकार का है—वर्णरूप और ध्वनिरूप। 'अकार' 'ककार' इत्यादि वर्णों के उच्चारण में जो शब्द उत्पन्न होता है सोही वर्ण-रूप है। शंख इत्यादि के बजाने से जो अस्पष्ट शब्द होता है उसी को 'ध्वनि' कहते हैं। वर्णलक्षण शब्द की उत्पत्ति स्मृति के द्वारा आत्मा मनस के संयोग से उत्पन्न होती है। पहिले वर्ण उच्चारण करने की इच्छा होती है, फिर उच्चारण करनेवाले का प्रयत्न, फिर इस प्रयत्नवान् आत्मा का शरीरस्थ वायु से संयोग, इस संयोग से वायु में चलन क्रिया—यह वायु उदर से ऊपर को चलकर कण्ठ तालु आदि मुख के नाना स्थानों में लगता है। इन स्थानों से वायु का संयोग होता है और फिर इन्हीं स्थानों स आकाश का

संयोग होता है। इन्हीं दोनों संयोगों के द्वारा वर्णरूप शब्द की आकाश में उत्पत्ति होती है। ध्वनिलक्षण शब्द भी ढोल और लकड़ी के संयोग से और ढोल आकाश के संयोग से, आकाश में उत्पन्न होता है। जब शब्द किसी एक स्थान में उत्पन्न होता है वहां से शब्द के तरंग आकाश मंडल में एक के बाद एक क्रम से उत्पन्न होते हुए जब कर्णस्थ आकाश देश में पहुंच जाते हैं तब उस कर्ण से उस शब्द का ग्रहण होता है ।

बुद्धि (२४)

'बुद्धि' ज्ञान का नामान्तर है। ज्ञान दो प्रकार के होते हैं— अविद्या और विद्या। अविद्या चार प्रकार की है, संशय, विपर्यय अनध्यवसाय, स्वप्न । संशय और अनध्यवसाय में भेद यह है कि यह जो मैं देखता हूं सो चीज गाय है या बैल है' ऐसा रूप संशय का है, जिसमें सन्दिग्ध दो पदार्थों का ज्ञान भासित होता है। अनध्यवसाय में किसी भी पदार्थ का ज्ञान भासित नहीं होता। 'यह क्या है' यही स्वरूप अनध्यवसाय का है ।

विद्या चार प्रकार की है, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, आर्ष ।

प्रत्यक्ष और अनुमान का वर्णन न्यायदर्शन प्रकरण में सविस्तर किया गया है। इससे पुनरुक्तिभिया यहां लिखना अनावश्यक है। नैयायिकों के 'शब्द' प्रमाण को वैशेषिकों ने अनुमानही में अन्तर्गत माना है। जैसे अनुमान में व्याप्तिज्ञान से ज्ञान उत्पन्न होता है वैसे ही शब्द ज्ञान में भी व्याप्तिज्ञान ही कारण है । जैसे अनुमितिज्ञान में साध्यसाधन की व्याप्ति ज्ञान का कारण होता है वैसा ही शब्द अर्थ की व्याप्ति का ज्ञान शाब्दज्ञान का कारण है। जब हम यह जान लेते हैं कि जहां धूम है वहां आग अवश्य है तभी धूम देखकर आग का अनुमितिज्ञान होजाता है। उसी तरह जब हमको यह ज्ञान होजाता है कि 'घट' शब्द घड़ा ही का बोधक है, जब किसी आदमी को घड़ा की चर्चा करनी होगी तब 'घट' यही शब्द का उच्चारण करेगा, तभी हमको 'घट' शब्द के सुनने से घड़े का शब्दज्ञान होगा।

उपमान को वैशेषिक "शब्द" में अन्तर्गत करते हैं। 'गाय के सदृश गवय है' यह जो शहरवाले आदमी को गवय को देखे बिना गवय

का ज्ञान होता है सो तभी होगा जब उसको कोई गवय देखने वाला विश्वासपात्र आदमी कहेगा, की गवय गाय के सदृश होता है । इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'शाब्द' है । और शाब्द ज्ञान अनुमान है । क्योंकि जब कभी शब्द सुनकर निश्चितज्ञान मेरे मन में होगा तब अवश्य मेरे मनमें यह युक्ति आवेगी 'यह जो बात इस आदमी ने कही सो अवश्य सत्य है, क्योंकि यह सत्यवादी है' । यह स्पष्ट अनुमिति ज्ञान का स्वरूप है ।

अर्थापत्ति और अभाव को भी नैयायिकों की तरह वैशेषिक अनुमान में अन्तर्गत मानते हैं ।

स्मृति को नैयायिकों ने अप्रमाण माना है, परंतु वैशेषिकों ने इसको विद्या ही एक का प्रकार माना है । (प्रशस्तपाद पृ० १८६, २५६) ।

शास्त्र प्रवर्तक ऋषियों को भूत भविष्यत् अतिन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान उनके विलक्षणधर्म के द्वारा होता है, इस ज्ञान को 'आर्ष' 'प्रातिभ' ज्ञान कहते हैं । (प्रशस्तपाद पृ. २५८)

तीसरा पदार्थ । कर्म

द्रव्य और गुण का विचार होगया । तीसरा पदार्थ ' कर्म ' पांच प्रकार का है । एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है, सो भी भूत ही द्रव्य में । सब कर्म क्षणिक हैं । कर्म में गुण नहीं होता । गुरुत्व द्रवत्व प्रयत्न और संयोग से कर्म उत्पन्न होता है । अपने से उत्पन्न जो संयोग उसी से कर्म का नाश होता है । संयोग और विभाग को उत्पन्न करता है । कर्म असमवायि कारण होता है । अपने आश्रय में और दूसरे आश्रय में समवेत कार्य को उत्पन्न करता है ।

कर्म के पांच भेद हैं—[१] उत्क्षेपण, ऊपर जाना । [२] अपक्षेपण. नीचे जाना । [३] आकुञ्चन, सकुच जाना । [४] प्रसारण, फैलना । [५] गमन, चलना ।

ये पांचो तरह के कर्म तीन तरह के होते हैं–[१] सत्प्रत्यय ज्ञानपूर्वक । जैसे जब हम जानकर अपना हाथ उठाते हैं तब हाथ का

ऊपर जाना सत्प्रत्यय उत्क्षेपण हुआ। [२] असत्प्रत्यय, अज्ञानपूर्वक जैसे मैंने जानकर एक रबरके गेंदा को ऊपर फेंका, यह तो सत्प्रत्यय कर्म हुआ लेकिन फिर गिर कर जो वह गेंदा उछला तो यह कर्म असत्प्रत्यय हुआ। ये दो तरह के कर्म चेतन शरीर में या तत्सम्बद्ध वस्तुओं ही में होगा। [३] अप्रत्यय, अचेतन द्रव्यों का कर्म।

कर्म के ये कारण हैं-[१] नोदन अर्थात् ढकेलना, जैसे पंक में पैर डाला तो पंक हिल जाता है। [२] गुरुत्व जैसे घट के आधार को हटा लिया तो घट अपने गुरुत्व के द्वारा नीचे गिर गया। [३] वेग या संस्कार, जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण दूर तक चला जाता है। [४] प्रयत्न-मैंने प्रयत्न किया तो मेरा हाथ उठ गया।

श्वास में जो वायु का गमन रूपकर्म होता है उसका कारण है जागते हुए प्राणी में आत्मा वायु के संयोगपूर्वक प्रयत्न। और सोते हुये प्राणी में आत्मा वायु संयोगपूर्वक प्रयत्न। जिस प्रयत्न से प्राणी जीवन धारण करता है।

आकाश काल दिक् आत्मा इनमें कर्म नहीं है, क्योंकि ये अमूर्त हैं। मूर्ति उन्हीं द्रव्यों में होती है जिनका परिमाण अल्प है। जो द्रव्य सर्वव्यापी है उसकी मूर्ति नहीं हो सकती। मन में मूर्ति है. इसमें कर्म भी है। इसी मन के कर्म से मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। आत्ममनः संयोग पूर्वक इच्छा या द्वेष से मन में कर्म उत्पन्न होता है। मन में अपसर्पण और उपसर्पण रूप कर्म होते हैं। आत्ममनःसंयोगपूर्वक अदृष्ट-द्वारा जब किसी आदमी के जीवनधारण में कारण भूत धर्माधर्म नष्ट होगये तब जीवनधारण का प्रयत्न भी बन्द हो जाता है। फिर उसके प्राण के निरोध में कारणभूत धर्माधर्म जोर डालते हैं। इन्हीं के जोर से आत्ममनःसंयोग द्वारा मृत शरीर से जो मनस निकल जाता है उसी कर्म को 'अपसर्पण' कहते हैं। उसी धर्माधर्म के द्वारा उस मन का उस आत्मा के अतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर से सम्बन्ध होता है। इसी शरीर और मनस के द्वारा उस आत्मा को स्वर्ग और नरक का भोग होता है। पुनः शरीर ग्रहण के कारण भूत धर्माधर्म के जोर का अवसर आने पर फिर वह मन दूसरे स्थूल

शरीर से सम्बन्ध होता है। इसी को 'उपसर्पण' कहते हैं।

चौथा पदार्थ सामान्य

'सामान्य' जाति को कहते हैं। जिसके द्वारा अनेक वस्तु एक समझी जाती हैं। जैसे दश मनुष्य एक इसीसे समझे जाते हैं कि वे मनुष्य हैं, इससे 'मनुष्यत्व' एक जाति हुई।

जाति दो तरह की है—अपर अर्थात् छोटी। और पर अर्थात् बड़ी। 'मनुष्यत्व' जाति पर हुई 'ब्राह्मणत्व' जाति की अपेक्षा, और अपर हुई 'जीवत्व' जाति की अपेक्षा। 'सत्ता' जाति एक ऐसी है जिससे 'पर' और कोई जाति नहीं है। और 'सत्ता' जाति के द्वारा केवल कई वस्तु एक समझी जासकती है, इसके द्वारा कोई वस्तु किसी वस्तु से भिन्न नहीं समझी जाती। जैसे 'ब्राह्मणत्व' जाति के द्वारा ब्राह्मण लोग और मनुष्यों से अलग समझे जाते हैं।

द्रव्य, गुण, कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में जाति होती है।

कई वस्तुओं में किसी एक गुण के होने ही से उस गुण के द्वारा उन वस्तुओं की एक जाति नहीं मानी जाती। और अगर कोई वस्तु एक ही है तो उस की जाति नहीं मानी जाती। फिर पृथक् पृथक् जाति ऐसी ही मानी जा सकती जिनमें परस्पर हेर फेर या मिल जाने का सन्देह न रहे। जैसे 'भूतत्व' और 'मूर्तत्व' दो जाति नहीं हैं क्योंकि आकाश में भूतत्व है पर मूर्तत्व नहीं, मन में मूर्तत्व है भूतत्व नहीं पर. पार्थिवी जल वायु में दोनों हैं। इससे ये दोनों एक दम पृथक् नहीं मानी गई हैं।

ऐसे ऐसे गुण जो कई वस्तुओं में हों पर जिनके द्वारा स्वतन्त्र जाति नहीं कल्पित की जाती, ये 'उपाधि' कहलाते हैं।

जाति नित्य है परस्पर भिन्न है। एक है।

पांचवां पदार्थ विशेष।

'सामान्य' का विरोधी विशेष है। जैसे दस चीजों को एक मानने का कारण सामान्य होता है वैसेही जिसके द्वारा कोई वस्तु और सब वस्तुओं से अलग मानी जाय उसको 'विशेष' कहते हैं। परन्तु गुण बहुत से ऐसे ही हैं कि यद्यपि कई चीज़ों से कुछ

चीजों को अलग करते हैं परन्तु इन कई चीजों में समान पाये जाते हैं। इससे ये गुण सामान्य के भी कारण होजाते हैं। और 'सामान्य-विशेष' ऐसी मिली हुई संज्ञा इन की होती है। जैसे लाल रंग लाल वस्तु को और रंग की वस्तुओं से अलग करता है, पर कुल लाल वस्तुओं में समान है। इसी से असल विशेष वेही हैं जिनके द्वारा केवल वस्तु औरों से पृथक् समझी जाय। ऐसे गुण केवल वेही हो सकते हैं जो कि परमाणुओं ही में हैं। एक द्रव्य के परमाणु में जो गुण हैं वेही 'विशेष' कहलाते हैं। या नित्य द्रव्य जो हैं आकाश, काल दिक, आत्मा, इन्हीं के गुण 'विशेष' हो सकते हैं। मन अणु है इससे मन का गुण भी 'विशेष' हो सकता है। इससे जितने परमाणु हैं उन सभों में पृथक् पृथक् कोई कोई ऐसे गुण हैं जिनके द्वारा एक परमाणु दूसरे से अलग समझा जाता है। आकाशादि नित्य द्रव्य में भी कई गुण होंगे जिन से एक नित्य द्रव्य दूसरे नित्य द्रव्य से अलग समझा जाता है। इन्हीं गुणों को 'विशेष' कहते हैं। इन विशेषों का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल योगियों ही को हो सकता है। हम लोग केवल उनका अनुमान कर सकते हैं।

विशेषों के मानने ही से प्राय इस दर्शन के मानने वाले 'वैशेषिक' कहलाते हैं। परंतु कणाद सूत्र में विशेष का लक्षण नहीं पाया जाता है। केवल सूत्र १२ में विशेष की चर्चा पाई जाती है जहां पर सामान्य गुणों के वर्णन के अवसर में इनको अन्य विशेष से अलग कहा है। इसी मूल पर प्रशस्तपाद ने विशेषों का स्वीकार कर पहिले पहिल इसका लक्षणादि किया।

समवाय प्रकरण।

नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। जैसे अवयव और अवयवों का सम्बन्ध जब दो वस्तु कभी एक दूसरे से अलग नहीं पाई जाती तब उन दोनों के इस सम्बन्ध को 'अयुतसिद्धि' या 'समवाय' कहते हैं। संयोगादि सम्बन्ध का नाश होता है। समवाय का नाश नहीं होता। इसी से संयोगादि से इसको पृथक् सम्बन्ध माना है।

समवाय सम्बन्ध द्रव्यों में किसी सम्बन्ध से नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो अनन्त सम्बन्धों की कल्पना आवश्यक होती

जैसा शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में कहा है । इससे प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है कि द्रव्यों में जो समवाय रहता है वह तादात्म्य रूप से । अर्थात् द्रव्यों से पृथक समवाय नहीं है । जैसे द्रव्यादि में सत्ता किसी सम्बन्धान्तर से नहीं रहती, द्रव्य है इसी से उस में सत्ता है इसी तरह, जब दो द्रव्य कभी पृथक् नहीं रहते, बस इतनेही में इन में समवाय सम्बन्ध है ऐसा माना जाता है ।

समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता । समवाय एक ही है ।

॥ इति ॥

न्याय प्रकाश।

---:o:---

न्याय दर्शन के प्रथम प्रवर्तक सूत्रकार गौतम हैं। यह 'अक्षपाद' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इस नाम का मूल पंडितों में ऐसा प्रसिद्ध है:—

मिथिला देश में जो स्थान अब दरभंगा शहर के नाम से प्रसिद्ध है वहां से दस कोश उत्तर-पश्चिम की तरफ़ गौतम ऋषि रहते थे वह लड़कपन ही से हर दम विचार में मग्न रहा करते थे। उस समय और कुछ भी उन्हें नहीं सूझता था। एक दिन ऐसे ही मनन करते करते वह सामने कुएं को न देख सके, और उसमें गिर पड़े। बहुत मुश्किल से गांव के आदमियों ने उनको वहां से निकाला। यह देख कर ईश्वर को दया आई और उन्हों ने गौतम को एक आंख (अक्ष), पैर (पाद) में भी दे दी जिससे कि वे मनन करने के समय भी रास्ता देख सकें। तभी से ये 'अक्षपाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गौतम के सूत्र 'न्यायसूत्र,' 'गौतमसूत्र' इन नामों से अब तक प्रसिद्ध हैं। इन सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने भाष्य लिखा। इस भाष्य पर उद्योतकर (पक्षिल स्वामी) ने वार्तिक-लिखा। इस वार्तिक की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के नाम से लिखी। इसकी टीका उदयनाचार्य कृत तात्पर्यपरिशुद्धि है। इस परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय कृत प्रकाश है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान, इन सोलहों पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से पुरुष का अभीष्ट जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है, यही गौतम का प्रथम प्रतिज्ञासूत्र है। इस स्वरूप की प्रतिज्ञा कुछ बेसिर पैर की मालूम पड़ती है। इसी

से कुछ लोगों ने न्यायदर्शन पर असम्बद्धप्रलापिता का दोष लगाया है। किन्तु आगे चलकर सोलहों पदार्थों से क्या अर्थ है इसका निरूपण करने के उपरान्त कैसे सम्बद्ध और एक दूसरे से गठे हुए ये सूत्र हैं सो विचार किया जायगा।

(१) 'उद्देश'—नाम कहना, (२) 'लक्षण'-किस पदार्थ का क्या चिह्न है जिससे वह पहचाना जा सकता है इसका निरूपण और (३) 'परीक्षा'—जो चिह्न बतलाया गया सो इस पदार्थ में है या नहीं यह विचार,—ये तीन बातें जब तक न की जायं तब तक किसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इससे इसी तीनों क्रम से उक्त सोलहो पदार्थों का अलग अलग विचार शास्त्रकारों ने किया है।

प्रत्येक पदार्थ का विचार आरम्भ करने के पहिले इसका विचार करलेना उचित होगा कि गौतम ने इन सोलहों पदार्थों ही को क्यों मुख्य माना है।

अपना ग्रंथ लिखने से पहिले गौतम ने यह समझा कि विषय के यथार्थ स्वरूप निरूपण करने का सब से उत्तम ढंग यह है कि दो आदमियों को वादी और प्रतिवादी कल्पना करके एक तीसरे मध्यस्थ के आगे दोनों पक्षों को उपपादन करा कर फिर उस कल्पित मध्यस्थ के द्वारा यथार्थ तत्त्व का निर्णय कराया जाय। इसी मतलब से ये सोलहो पदार्थ इस क्रम से उद्दिष्ट लक्षित और परीक्षित हुए हैं। इस क्रम पर बहुतेरों ने आक्षेप किया है। परन्तु जिस मतलब से यह ग्रन्थ रचा गया वह मतलब बिना इस क्रम के पूरा न होता। (१) किसी विषय में जब दो आदमियों में विवाद उपस्थित होता है तब वाद आरम्भ होने के पहिले इसका निर्णय आवश्यक होता है कि इस वाद में कौन कौन प्रमाण दोनों वादियों से माने जांयगे। इससे सब से पहिले 'प्रमाण' पदार्थ का निरूपण आवश्यक है। (२) इसके अनन्तर किन किन विषयों पर मतभेद है जिन पर वाद प्रतिवाद होगा यह निश्चय करना आवश्यक होगा। इसी को सूत्र में 'प्रमेय' पद से कहा है। (३) विषयों के सूचित होने के अनन्तर मध्यस्थ

के चित्त में सन्देह उत्पन्न होगा कि इन विषयों का असल स्वरूप क्या है। इसी सन्देह को सूत्र में 'संशय' पद से कहा है। (४) सन्देह के उपरान्त फिर मध्यस्थ के चित्त में यह विचार उपस्थित होता है कि इन विषयों पर विचार करने से क्या मतलब, इस विचार से क्या फल होगा। इसी को सूत्र में 'प्रयोजन' पद से कहा है। (५) विचार का प्रयोजन दिखलाने के लिये दो आदमियों में से एक आकर प्रयोजन बतलाता हुआ अपना जो पक्ष सन्दिग्ध विषयों पर है उस को दृष्टांत दिखलाकर बतलाता है। यही 'दृष्टान्त' पांचवाँ पदार्थ सूत्र में कहा गया है। (६) जिस पक्ष को वादी ने पुष्ट कर के बतलाया उसी को उसने अपना 'सिद्धान्त' माना। यही छठवां पदार्थ सूत्र में कहा गया है (७) वादी का पक्ष सूचित होने पर प्रतिवादी सामने आकर उसके पक्ष के साधन में जो कुछ युक्तियाँ कही गई उनका विचार करता हुआ उनके खंड खंड की विवेचना आरम्भ करता है। उन युक्तियों में क्या क्या बात कही गई और क्या क्या मानी गई इसका स्पष्ट रूप से विभाग करता है और इनका खंडन करता है। इन्हीं युक्ति के खंडों को 'अवयव' पद से कहा है। (८) अपनी युक्तियों को खंडित देख कर वादी फिर और युक्तियां बतलाता है जिन से प्रतिवादी की बतलाई हुई युक्तियों का उत्तर हो जाय। इसी को 'तर्क' कहा है। (९) तर्क द्वारा जो अपना पक्ष स्थिर किया जाय वही 'निर्णय' हुआ। (१०) प्रतिवादी इतने से सन्तुष्ट न होकर मध्यस्थ से प्रार्थना करता है कि तत्त्व-निर्णय करने के लिये शास्त्रार्थ की आवश्यकता है। इसी शास्त्रार्थ को सूत्र में 'वाद' पद से कहा है। (११) शास्त्रार्थ आरम्भ होने पर यदि प्रतिवादी यथार्थ में तत्त्वनिर्णय ही करना चाहता होगा तो कुछ काल तक उत्तर प्रत्युत्तर रूप से शास्त्रार्थ होने पर सत्य पक्ष को मान लेगा। पर यदि केवल अपनी चतुराई को दिखलाना और वादी को हरा देना यही उसका दुष्ट मतलब होगा तो वह किसी तरह अपनी हार न मान कर उत्तर प्रत्युत्तर करता ही रहेगा। इसी दुष्ट शास्त्रार्थ को 'जल्प' कहते हैं (१२)। जब तक कुछ अच्छी अच्छी युक्तियां मिलती जायंगी तब तक तो ठीक ही है। पर

कुछ काल के अनन्तर वह केवल ऊटपटांग बकना प्रारम्भ करेगा। इसी को 'वितण्डा' कहते हैं (१३)। इस वितण्डा में जितनी युक्तियां वह कहेगा वे सब या तो सरासर अशुद्ध ही होंगी जिन को 'हेत्वाभास' पद से कहा है (१४)। अथवा जान बूझ कर अंड बंड होंगी जिनको 'छल' पद से कहा है (१५)। ऐसे अंड बंड बकने में वह परस्पर विरुद्ध और अशुद्ध बातें बकेगा जिस से लोगों को यह मालूम होने लगेगा की उसकी हार हुई। इसी को 'जाति' पद से कहा है। (१६) इस अवस्था में सभा के सब लोगों को यह निश्चय मालूम होगा कि प्रतिवादी का पक्ष अशुद्ध और वादी का पक्ष शुद्ध है। तब मध्यस्थ प्रतिवादी को आगे बकने से रोक देता है। इसी रोकने को 'निग्रह' कहते हैं और इसी अवस्था को 'निग्रह स्थान' पद से सूत्र में कहा है।

अब हम लोग समझ सकते हैं कि किस कारण से गौतम ने अपने सूत्रों में इस क्रम का ग्रहण किया है।

प्रथम पदार्थ—प्रमाण।

सब पदार्थ का 'उद्देश' तो पहिले ही सूत्र में किया गया। अब क्रम से सबों के 'लक्षण' कहे जायंगे और उनकी 'परीक्षा' की जायगी।

पहिला पदार्थ है 'प्रमाण'

'प्रमा' —यथार्थ ज्ञान—का जो 'करण' मुख्य हेतु-उसी को प्रमाण कहते हैं। जैसे काटने के काम में फरसा 'हेतु' या हथियार होता है इसी तरह जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो उसी को उसका करण कहते हैं। वही करण 'प्रमाण' है।

यद्यपि ज्ञानों के उत्पन्न होने में बहुतेरे कारणों का व्यापार होता है परन्तु ज्ञान उत्पन्न करने में जिस कारण का व्यापार सब

से अधिक अपेक्षित हो, जिस के बिना जो ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सके, वही उसका 'साधकतम' 'उत्कृष्ट साधन' हुआ । और वही उस ज्ञान का 'प्रमाण' कहलाता है । जैसे किसी वस्तु के देखने में यद्यपि उस वस्तु के रंग, रोशनी इत्यादि सभी अपेक्षित होते हैं तथापि आँख ही एक ऐसी वस्तु है जिसके बिना वस्तु का देखना कभी सम्भव नहीं । इस से आँख ही देखने का 'करण' कहला सकती है ।

प्रमा—यथार्थ ज्ञान

उसी ज्ञान को कहते हैं जो न तो संशय रूप का हो और न एक दम मिथ्या ही हो और जो न स्मरणरूप हो । जब कोई पेड़ को देखता है और समझता है कि 'मैंने पेड़ को देखा' तब उसका ज्ञान प्रमा हुआ । पर यदि पेड़ को देख कर वह समझे कि 'मैं एक भूत देख रहा हूँ' तो उसका ज्ञान एक दम मिथ्या हुआ । इसी को 'विपर्यय' ज्ञान भी कहा है । फिर यदि पेड़ को देख कर उसके मन में ऐसा ध्यान हो कि क्या मैं पेड़ देख रहा हूं, या भूत' तो उसका ज्ञान 'संशय' हुआ । आज एक पेड़ को देखा फिर दस दिन के बाद यदि किसी कारण से उसके बिना देखे फिर वह वृक्ष चित्त में आ जाय तो यह ज्ञान 'स्मरण' हुआ ।

कोई एक ज्ञान यथार्थ है या नहीं यह हम कैसे जान सकते हैं—जब तक हम यह नहीं जानेंगे तब तक प्रमाण क्या है यह कैसे समझ सकते हैं । इस विषय में बड़ा मतभेद पाया जाता है । मीमांसकों ने माना है कि जितने ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे अपने आप यथार्थ ही उत्पन्न होते है । खाली पीछे से जब हम यह देखते हैं कि ज्ञान मिथ्या है तो भी यह दोष ज्ञान का नहीं होता पर उसके विषय ही में होता है । जिस विषय को जैसा हमने समझा था वैसा वह नहीं है । या उस ज्ञान के उपाय ही का दोष हमें मालूम पड़ता है । जिस इन्द्रिय से या जिस अनुमान से या जिन शब्दों से हमको ज्ञान हुआ था वे शुद्ध नहीं थे । ज्ञान में किसी तरह का दोष कभी नहीं होता । नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है । उनके मत

से ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है वे जब निर्दुष्ट पाये जाते हैं तभी ज्ञान प्रमा है, ऐसा निश्चय होता है। इसी तरह उन कारणों में जब दोष पाया जाता है तब वे अप्रमा माने जाते हैं। इस विषय का पूरी तरह से विचार न्यायमंजरी (पृ० १८०) में किया गया है। न्यायमत से दोष ज्ञान ही में है, अर्थ में नहीं। घोड़ा तो घोड़ा ही रहता है। खाली मेरे ज्ञान में गलती होती है। वार्तिक पृष्ठ ३८)

ज्ञान का प्रथमतः दो अंशों में विभाग होता है। (१) अनुभव, जो किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान हो। और (२) स्मरण, जो ज्ञान कोई दूसरे ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हो। स्मरण के कारण सूत्र ३। २। ४३ में पच्चीस गिनाये गये हैं। फिर अनुभव को तीन प्रकार का माना है (१) प्रमा (२) विपर्यय (३) संशय।

जब हम घोड़े को घोड़ा समझते हैं तब हमारा ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। अर्थात् जो वस्तु जो है और जैसी है उसको जब हम वही वस्तु या वैसीही समझे तब हमारा ज्ञान प्रमा हुआ। पर घोड़े को यदि हमने गदहा समझा। अर्थात् जो वस्तु जो नहीं है या जैसी नहीं है उसको वह या वैसा जब मैंने समझा तो मेरा ज्ञान अप्रमा या 'विपर्यय' हुआ। विपर्यय ज्ञान के स्वरूप में भिन्न दर्शनों में बड़ा मतभेद है। इसका विचार न्याय-मंजरी (पृ० १८०-८८) में किया गया है। जब 'यह घोड़ा है या गदहा' यह मुझको निश्चय नहीं होता, कुछ चिह्न मुझे घोड़े के से मालूम पड़ते और कुछ गदहे के से, तो मेरा ज्ञान 'संशय' कहलाता है।

'करण' को प्रधान कारण कहा है। इसी प्रसंग में कारण क्या है और कै तरह का होता है इसका विचार भी यहां आवश्यक है। जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तब उसके पहिले जिस दूसरी वस्तु का रहना आवश्यक होगा और जो वस्तु केवल उस कार्य को छोड़ कर किसी दूसरे कार्य के उत्पन्न करने में न लगी होगी उसी को उस कार्य का 'कारण' कहेंगे। जैसे कपड़ा जब जब उत्पन्न होगा तब तब उसके पहिले सूत अवश्य रहेंगे। इसलिये सूत कपड़े का कारण हुआ। परन्तु उन्हीं सूतों की लम्बाई या लाल रंग इत्यादि गुण जब

कपड़े के कारण नहीं होंगे। क्योंकि सूत का रंग या लम्बाई कपड़े के रंग या लम्बाई को उत्पन्न करता है, कपड़े को नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु के उत्पन्न होने में जिस वस्तु की आवश्यकता हो, जिसके बिना कभी वह वस्तु उत्पन्न ही न हो सके वही उसका 'कारण' हुआ। और जो वस्तु जिसके अनन्तर अवश्य हो, और जो जिसके बिना नहीं हो सके वही उसका 'कार्य' हुआ।

कारण तीन प्रकार का होता है (१) समवायि कारण-(२) असमवायि कारण-(३) और निमित्त कारण।

(१) जिस कारण में कार्य ' समवेत ' रहता है अर्थात् जिस में, जिसके भीतर, जिससे मिला हुआ, जिस का रूपान्तर होकर, कार्य उत्पन्न होता है और रहता है वही उसका ' समवायि कारण' है। जैसे कुंडल के लिये सोना अथवा कपड़े के लिये सूत। सोने ही के भीतर, उसी से मिला हुआ, उसी के रूपान्तर होने से कुंडल उत्पन्न होता है। इस से सोना कुंडल का समवायि कारण हुआ। समवायि कारण का कार्य से नित्य सम्बन्ध रहता है। जब तक कुंडल रहेगा तब तक सोने से उसका सम्बन्ध नहीं छूटेगा। इसी नित्य सम्बन्ध का नाम वैशेषिकों के यहां समवाय सम्बन्ध ' अयुतसिद्धि ' इत्यादि पारिभाषिक शब्दों से कहा जाता है।

(२) किसी कार्य के उत्पन्न होने के समय जो वस्तु उसके समवायि कारण से सम्बद्ध हो और जिसका व्यापार उस कार्य के उत्पन्न होने में साफ मालूम पड़े वही उस कार्य का ' असमवायि कारण ' कहलाता है। कार्य के उत्पन्न होने में उसका व्यापार आवश्यक होता है, इस से वह ' कारण ' अवश्य हुआ। पर वह कार्य उसी वस्तु में नहीं उत्पन्न होता इस से ' असमवायी ' कहलाया। जैसे कपड़े में जो सूत रहते हैं उन सूतों का एक दूसरे के साथ जो संयोग (मिलना) है उसके बिना कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता। इससे सूत्रसंयोग कपड़ों का कारण अवश्य होगा। पर वह कपड़ा उस संयोग में नहीं उत्पन्न होता है जिस तरह वह सूतों में उत्पन्न होता है। इसी से वह ' असमवायी ' हुआ।

(३) जिस वस्तु का व्यापार कार्य के उत्पन्न होने में आवश्यक

हो, पर वह न समवायि कारण और न असमवायिकारण हो, तो उसी को 'निमित्त कारण' कहते हैं। जैसे कुंडल सोनार के व्यापार के बिना नहीं उत्पन्न हो सकता। पर सोनार कुंडल का न तो 'समवाय कारण' है और न 'असमवायि कारण'। इन दोनों कारणों के जो लक्षण कहे गये हैं वे सोनार में नहीं पाये जाते। इस से सोनार कुंडल का 'निमित्त कारण' कहलाता है।

अब यह विचार उपस्थित होता है कि प्रमा के किस तरह के कारण का 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमा का 'समवायि' कारण है आत्मा। उसका असमवायिकारण आत्मा-मन-इन्द्रिय का संयोग है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह उस ज्ञान का 'निमित्त कारण' है। इन में से आत्मा-मन-इन्द्रिय के संयोग ही को प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति 'प्रमा का करण' वा 'प्रमाण' माना है। क्यों कि वस्तु वा आत्मा के रहते भी जब तक वह संयोग नहीं होता तब तक ज्ञान कभी नहीं उत्पन्न होता।

ज्ञान के कारण को 'प्रमाण' कहा है। जिन सामग्रियों से किसी वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है—जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण निरूपण में वर्णित होंगे—उनको प्रमाण कहा है। पर बहुतेरे ग्रन्थों में वस्तु के ज्ञान को भी 'प्रमाण' कहा है। पर इस पक्ष में भी ज्ञानही का कारण 'प्रमाण' होता है। जब सामग्री को 'प्रमाण' मानते हैं तब उस करण का फल उस वस्तु का ज्ञान होता है और जब उस वस्तु के ज्ञान को 'प्रमाण' मानते हैं तब यह चीज अच्छी है, रखने योग्य है, यह चीज बुरी है, फेंकने योग्य है-इत्यादि ज्ञान फल होता है। दोनों पक्षों में ज्ञानही फल और ज्ञान का कारणही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि के लक्षण में गौतम ने इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा है। जिससे यह स्पष्ट है कि इन के मत से ज्ञान ही 'प्रमाण' है।

गौतम ने तीसरे सूत्र में चार प्रमाण माने हैं।

"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"। (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान-(४) शब्द—ये चार प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष।

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"—ऐसा प्रत्यक्ष का स्वरूप गौतम ने कहा है। किसी चीज का सम्बन्ध जब किसी इन्द्रिय से होता है तब इस सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। लेकिन 'यह किताब है' ऐसा जो शब्दों से ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है सो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। इसी से प्रत्यक्ष को सूत्र में 'अव्यपदेश्य' बतलाया है। और जैसी वह चीज़ असल में है वैसीही इस ज्ञान से मानी जानी चाहिये। इससे इस ज्ञान को 'अव्यभिचारी' कहा है। फिर यह ज्ञान संदिग्ध नहीं होता। यही सूत्र में 'व्यवसायात्मक' पद से कहा है। जिनके मत में इस ज्ञान का कारण ही प्रमाण है उनके मत से इन्द्रिय 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हुआ और ज्ञान जो उत्पन्न हुआ सो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' हुआ। प्राचीन मत के अनुसार इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हुआ। सूत्र में जो 'अव्यपदेश्य' पद है इससे साफ़ मालूम होता है कि वस्तुमात्र का जो ज्ञान निर्विकल्पक होता है वही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। और 'यह चीज लेने लायक है या फेकने के लायक है,' इस तरह का ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। नवीन ग्रन्थकारों ने दोनों मत को मानकर ऐसा कहा है कि भिन्न भिन्न अवस्थाओं में (१) इन्द्रिय (२) इन्द्रिय का सम्बन्ध (३) इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान, ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण अर्थात् 'प्रत्यक्ष प्रमाण' होते हैं। जब इन्द्रिय करण है तब उसका फल अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान वह ज्ञान होगा जो कि पहिले पहिल चीज के सामने आने से होता है। जैसे कि 'यह कोई चीज मेरे सामने है,' इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं। कुछ देर के बाद उसी चीज का ज्ञान ऐसा उत्पन्न होता है जैसे 'यह चीज जो मेरे सामने है वह एक किताब है'। इस ज्ञान को 'सविकल्पक ज्ञान' कहते हैं। जब यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ तब इस ज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण 'इन्द्रिय का सम्बन्ध' है। और जब इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान करण होता है तब 'यह चीज़ लेने लायक वा फेकने लायक है,' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ।

इन मतमतान्तरों से यह मालूम होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का रूप ऐसा होता है। जब कोई किताब मेरी आखों के सामने आती है तब जब तक मेरी नज़र अच्छी तरह उस किताब पर नहीं पड़ती तब तक यही ज्ञान होता है कि यह कोई एक वस्तु है। वह वस्तु क्या है, उसका नाम या गुण क्या है, सो सब कुछ भी उस समय मालूम नहीं होता। इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं। इसका करण इन्द्रिय मात्र है। और इस करण से जो निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें इन्द्रिय के सामने उस किताब का आना भी आवश्यक होता है। जैसे फरसे से लकड़ी काटने में फरसा करण होता है और फरसे का लकड़ी पर गिरना आवश्यक होता है। फिर जब आंख उस किताब पर अच्छी तरह पड़ती है तब 'यह वस्तु जो मैं देख रहा हूं वह एक किताब है, इसका रंग लाल है, इसमें सोनहरे अक्षरों से इसका नाम लिखा है, इस किताब में काले काले अक्षर लिखे हैं' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस ज्ञान को 'सविकल्पक' कहते हैं। इसका करण इन्द्रियसम्बन्ध है। इन्द्रियसम्बन्ध से जो सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें बीच में निर्विकल्पक ज्ञान का होना आवश्यक होता है। कुछ देर और देखने के बाद यह मालूम पड़ता है कि 'यह किताब रखने और पढ़ने के योग्य है—' वा 'यह बुरी है यह फेकने के लायक है।' इस ज्ञान को 'हानादिबुद्धि' कहते हैं। इस ज्ञान का करण, 'प्रत्यक्ष प्रमाण' आगे का निर्विकल्पक ज्ञान होता है। और इन दोनों के बीच में सविकल्पक ज्ञान आवश्यक होता है।

जितने ज्ञान होते हैं सब आत्मा में उत्पन्न होते हैं। आत्मा के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसी तरह मन के बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता। सब तरह के ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग आवश्यक है। इस से प्रत्यक्ष ज्ञान में- (१) वस्तु से इन्द्रिय का सम्बन्ध (२) इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध (३) मन से आत्मा का सम्बन्ध-इतने सम्बन्ध आवश्यक होते हैं।

इन्द्रिय के जिस सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वह छ प्रकार का होता है। (१) संयोग-जिस हालत में इन्द्रिय का

उस चीज से मामूली सम्बन्ध रहता है। जैसे जब किताब आंखों के सामने आई तब जो आंखों का उस किताब से सम्बन्ध है।

(२) संयुक्तसमवाय। जो चीज आंखों के सामने आई उसमें कोई ऐसा गुण हो जो उसमें हर दम रहता हो, उस गुण के बिना वह चीज कभी रहही नहीं सकती यह गुण जो आंखों से देखा जाता है उस गुण के साथ आंखों का जो सम्बन्ध है वह 'संयुक्त समवाय' कहलाता है। अर्थात् जब आंखों के सामने आई किताब की सूरत रंग इत्यादि हम देखते हैं, आंखों से किताब का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है, इससे किताब आंखों से 'संयुक्त' हुई। फिर किताब का रंग एक ऐसा गुण है कि जब तक वह किताब है तब तक उसका वह रंग भी उसके साथ है इससे इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है, इसी 'नित्य संबंध' को 'समवाय' कहते हैं। इससे किताब के रंग का आंखों से जो सम्बन्ध है वह संयुक्त समवाय' हुआ।

(३) संयुक्त समवेत समवाय—नैयायिकों के मत से जितनी चीजें एक तरह की हैं वे सब मिलकर एक 'जाति' कहलाती हैं। जैसे जितनी किताबें हैं वे सब 'किताब' जाति की हैं। जितने रंग हैं वे सब 'रंग' जाति के हैं। और सब चीजों में उनकी जाति हरदम साथही लगी रहती है। 'रंग' जाति से जुदा कभी रंग नहीं रह सकता। इससे 'रंग' जाति हर एक रंग में 'समवेत' 'नित्य सम्बद्ध' हुआ। इससे जब किताब सामने आई तब उसका रंग देखा। फिर जो मैं देख रहा हूं सो 'रंग' है, यह 'रंग' जाति का है, यह जो आंखों से देखा गया इसमें 'रंग' जाति का आंखों से सम्बन्ध 'संयुक्त समवेत समवाय' हुआ। आंखों से 'संयुक्त' है किताब, किताब में 'समवेत' है रंग, और रंग में समवाय सम्बन्ध है 'रंग' जाति का।

(४) समवाय। जब इन्द्रिय और जिस चीज का ज्ञान होता है उसका ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनों कभी जुदे न होते हों तब दोनों का सम्बन्ध नित्य है। जैसे जब कान से शब्द सुना जाता है। नैयायिकों के मत में कान के भीतर जो आकाश है वही 'कान

इन्द्रिय' है, उसी से शब्द सुना जाता है। और फिर उनके मत में शब्द आकाशही का नित्य गुण है। इससे शब्द और आकाश का सम्बन्ध नित्य है। जब आकाशरूपी कान से शब्द सुना जाता है तब इन दोनों में सम्बन्ध 'समवाय' ही हुआ।

(५) समवेत समवाय। 'यह शब्द जिसे मैं सुन रहा हूं वह शब्द जाति का है' यह ज्ञान जब 'कान' इन्द्रिय से होता है उसमें कान और 'शब्द' जाति का सम्बन्ध 'समवेत समवाय' हुआ। कान में समवेत है शब्द, शब्द में समवेत 'शब्द' जाति।

(६) संयुक्त विशेषणता। 'इस टेबुल पर किताब नहीं है' इस तरह जो टेबुल पर किताब का नहीं होना देख पड़ता है सो वहां पर किताब का 'अभाव' अर्थात् 'नहीं होना' देखा गया। वहां अभावही देखा गया ऐसा नैयायिक मानते हैं। यहां पर 'अभाव' टेबुल का 'विशेषण' हुआ, और टेबुल अभाव से 'संयुक्त' हुआ, इससे 'अभाव' का आंखों से सम्बन्ध 'संयुक्त विशेषणता' हुआ। कई ग्रन्थों में इस सम्बन्ध को विशेषणविशेष्यभाव कहा है। पर विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध अभाव का टेबुल के साथ हुआ। ऐसाही इन ग्रंथों में कहा भी है (तर्क भाषा पृ० ३२)। फिर सम्बन्ध का 'इन्द्रियसन्निकर्ष' इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध' कहना ठीक नहीं मालूम पड़ा इससे यहां पर इस छठवें सम्बन्ध का नाम 'संयुक्त विशेषणता' कहा है। तर्क भाषाही में कुछ पंक्ति आगे चलकर इस सम्बन्ध को 'सम्बद्ध विशेषण विशेष्य भाव' कहा है।

इन्द्रिय के संयोग से वस्तु का ज्ञान होता है। यह किस तरह से होता है इस विषय में कुछ मत भेद पाया जाता है। जब मुझको किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, 'जब मैं किताब को छूता हूं, तब मेरा इन्द्रिय (हाथ उस किताब पर पड़ता है तब वह किताब छुई जाती है। इसी तरह जब मैं उस किताब को आंखों से देखता हूं तब आंखों की ज्योति निकल कर किताब पर पड़ती है। इसी तरह जब मैं शब्द सुनता हूं तब श्रवणेन्द्रिय (कान से) निकल कर उस शब्द पर पड़ता है। अर्थात् तब इन्द्रिय 'प्राप्यकारी' होते हैं। ऐसा मत कुछ लोगों का

है। कुछ और लोग कहते हैं कि और इन्द्रियों में इन्द्रिय बाहर जाकर पड़ता है, पर आंख और कान में ऐसा नहीं होता। अर्थात् ये दो इन्द्रिय 'अप्राप्यकारी' हैं। सब इन्द्रिय 'प्राप्यकारी' हैं ऐसा नैयायिकों का मत है (वार्तिक पृ० ३७)। इनका कहना है कि यदि इन्द्रियों का विषयों पर पड़ना आवश्यक न होता तो हमारे नजदीक जितनी चीजें हैं उन सभों को हम देख सकते।

अनुमान।

द्वितीय प्रमाण है अनुमान। इस का लक्षण गौतम सूत्र में 'तत्पूर्वक' अर्थात् 'प्रत्यक्ष पूर्वक' इतनाही कहा है। इस के व्याख्यान में भाष्य में कहा है—लिङ्ग लिङ्गि इन दोनों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इन प्रत्यक्ष ज्ञानों से उत्पन्न जो ज्ञान उसी को 'अनुमान' ज्ञान कहते हैं। जैसे प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान को तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण दोनों को प्रत्यक्ष कहते हैं उसी तरह यहां भी लिङ्ग का प्रत्यक्ष ज्ञान और लिङ्गि का प्रत्यक्ष ज्ञान इन दोनों से उत्पन्न जो ज्ञान उस को भी अनुमान कहा है— (इसको 'अनुमिति' भी कहते हैं)—और उक्त दोनों प्रत्यक्ष ज्ञानों का साथ मिलकर जो एक ज्ञान होता है, जिस मिले हुए ज्ञान से अनुमिति ज्ञान होता है उस को भी 'अनुमान कहा है॥

हम अपने दिन दिन के काम में ऐसा पाते हैं कि जहां जहां हम धूआं देखते हैं वहां वहां आग जरूर पाते हैं। इस तरह धूआं और आग का हरदम साथ रहना जब हमने ठीक ठीक समझ लिया तो धूएं को आग का 'लिङ्ग' अर्थात् चिह्न कहा। इस के बाद जब हमने फिर कहीं धूआं निकलते देखा तो पहिली जो ठीक की हुई बात थी उस का स्मरण हुआ कि हमने पहिले जहां जहां धूआं देखा था वहां वहां आग जरूर पाया था—इस से मैं स्थिर जानता हूं कि—"जहां धूम है वहां आग जरूर है"। यही दो चीजों के हरदम साथ रहने का जो ज्ञान उसी को नैयायिकों ने व्याप्ति ज्ञान कहा है। अनुमान की पहली सीढ़ी यही व्याप्ति ज्ञान

है। इस के बाद जब हम किसी जगह पर धूआं देखते हैं तो इस देखने का हमारे मन में इस प्रकार होता है—"इस जगह धूआं है"। इसी को 'लिङ्ग' कहते हैं—अर्थात् जहां पर लिंग है—धूएं को देखते ही पहला जो व्याप्ति ज्ञान था वह मन में आजाता है। ये दोनों ज्ञान मिल कर मेरे मन में इस प्रकार भासित होते हैं—'जिस धूएं के साथ साथ हरदम हमने आग पाई है उस धूएं को मैं यहां देख रहा हूं। इसी को 'परामर्श ज्ञान' वा व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञान, कहते हैं। इसी के अनन्तर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि "इस जगह पर आग है॥

अनुमान की सीढ़ियां इस प्रकार होती हैं।

(१) "जहां धूआं है तहां आग है" (व्याप्ति) } परामर्श
(२) "यहां पर धूआं है" (पक्षता) }

(३) 'यहां पर आग है" (अनुमिति) परन्तु नैयायिकों के मत से यह प्रकार खूब ठीक नहीं है। यद्यपि अपने मतलब के लिये यह क्रम ठीक हो भी सकता है पर दूसरों के मन में ठीक तरह से ज्ञान कराने के लिए यह प्रकार ठीक नहीं है। इस से अनुमान का खास कर परार्थ (दूसरों के वास्ते) अनुमान का पांच खंड कहा है। वे पांच खंड 'अवयव' कहलाते हैं। ये अवयव यों हैं।

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश—अनुमान से जो बात सिद्ध करना है उसका वर्णन जिस वाक्य में हो। जैसे—'यहां पर आग है' सू. १. १. ३३।

(२) हेतु—जिस निशान से बात सबूत करनी हो उस निशान की सूचना जिस वाक्य से हो—जैसे—'क्योंकि यहां धूआं है'। सू. १. १. ३४।

(३) उदाहरण—पहिले जहां पर सबूत करनेवाली वस्तु बतलाये हुए निशान के साथ देखी गई है सो जिस वाक्य से बतलाया जाय। जैसे—'जहां जहां धूआं रहता है तहां तहां आग रहती है। जैसे—रसोइ घर में। सू. १. १. ३६।

(४) उपनय—कहा हुआ निशान यहां पर है इस बात का

जिस वाक्य से साफ सूचना होती है। जैसे—'यहां पर धूआं है'। सू. १. १. ३८।

(५) 'निगमन'—सबूत करनेवाली बात सबूत हो गई यह जिस वाक्य से साफ़ मालूम पड़े। जैसे—'इस लिए यहां आग है'। सू. १. १ ३६।

अनुमान का पूरा रूप यों है-

'यहां पर आग है' (प्रतिज्ञा)
'क्योंकि यहां पर धूआं है' (हेतु)
'जहां धूआं रहता है वहां
आग रहती है जैसे
रसोइ घर में' (उदाहरण)
'यहां पर धूआं है' (उपनय)
'यहां पर आग है' (निगमन)

इन पांचों अवयवों के नाम प्रशस्तपादभाष्य में-'प्रतिज्ञा-उपदेश-निदर्शन-अनुसन्धान-प्रत्याम्नाय'—कहे हैं।

गौतम के सूत्र की नाई उनकी अनुमान की प्रणाली भी दो वादी प्रतिवादी के बीच में विचार के क्रम से ही मानी गई है। इसी से परार्थ अनुमान पर इतना जोर रखकर अनुमान को पंचावयव माना है। जब दो आदमी किसी बात पर सन्देह करके विचार आरम्भ करते हैं जैसे जल द्रव्य है वा नहीं—तो एक आदमी कहता है—"जल द्रव्य है"। यही साध्यनिर्देश कहलाता है। (१) दूसरा पूछता है "यह तुम कैसे जानते हो।' तो इस के उत्तर मे पहिला आदमी कहता है "क्योंकि जल में रूप है"—यही 'हेतु' हुआ। (२) इस पर फिर दूसरा आदमी पूछ सकता है-"जल में रूप होने ही से वह द्रव्य क्यों होगा"?। इसके उत्तर में कहा जाता है—"जिस जिस वस्तु में रूप है वह द्रव्य अवश्य है जैसे घड़ा, किताब, वृक्ष इत्यादि" इसी को 'दृष्टान्त' कहते हैं (३) प्रतिवादी फिर कहता है—"हमने माना कि वृक्ष घट इत्यादि में रूप है इस से वे द्रव्य हैं पर इससे जल क्यों द्रव्य होने लगा?"। इस के उत्तर में वादी कहता है—"जल में रूप है" यही हुआ 'उपनय' (४)

अब इन चारों बातों पर एकट्ठा विचार कर वादी दृढ़ रूप से कहता है' "इन सब बातों से सिद्ध हुआ है कि जल द्रव्य है"। इसी को 'निगमन' कहा है (५)।

नवीन नैयायिक पांच अवयवों का मानना आवश्यक नहीं समझते। इन के मत मे तीन ही वाक्य सबूत करने के लिये काफी होते है। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त॥ मीमांसक और वेदांतियों ने भी इन्हीं तीन को माना है। बौद्ध नैयायिकों ने दो ही माना है—प्रतिज्ञा और हेतु। वार्तिककार का मत है की यह ठीक नही हैं।

अधिक पुराने नैयायिकों ने दस अवयव भी कहीं कहीं पर माने हैं। इनका वर्णन वात्स्यायनभाष्य (सू. १ २३) में है—ऊपर कहे हुए पांच, और उनके अतिरिक्त ये पांच—

(१) जिज्ञासा-बात के जानने की इच्छा।

(२) संशय-जिस चीज को मैं जानना चाहता हूं वह कैसी होगी—अच्छी या बुरी—मैं उसको लूंगा या फेंक दूंगा—' इत्यादि।

(३) शक्यप्राप्ति—उक्त वस्तु के जानने का जो उपाय है उनसे वह चीज जानी जा सकती है।

(४) प्रयोजन-इस बात को जानने से क्या मतलब-

(५) संशयव्युदास—जो बात सबूत की गई उसके विरुद्ध जो जो बातें मालूम पड़ें उनका निराकरण करना-

इनका विचार सूत्र १-१-३२ में किया गया है।

वार्तिककार (पृ०-१११) ने लिखा है कि इनको अवयव मानना भूल है—क्योंकि दूसरों को समझाने में इनका प्रयोजन नहीं पड़ता और दूसरों को समझाना ही अनुमान का असल मतलब समझा गया है। उनका यह कहना है कि दूसरों के समझाने के लिये जितने वाक्यों की आवश्यकता है उन्हीं को अनुमान का 'अवयव' मानना चाहिये। जिज्ञासा- जानने की इच्छा है। यह कोई वाक्य नहीं है—इसको किसी तरह के अनुमान—स्वार्थ या परार्थ—का अवयव कैसे कह सकते हैं" ?

प्रत्यक्ष और अनुमान में एक बड़ा भेद यह भी है कि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान काल की चीजें जानी जा सकती हैं—और

अनुमान से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल की चीजें जानी जा सकती हैं।

अनुमान का विभाग कई तरह से किया गया है । ऊपर कहा गया है कि अनुमान दो प्रकार का है [१] स्वार्थ अपने लिये ।अपने मन के विश्वास के लिये जो अनुमान किया जाय उसको ' स्वार्थ' कहते हैं । [२] 'परार्थ-जो अनुमान दूसरों को विश्वास दिलाने के लिये कहा जाय । स्वार्थानुमान में अनुमान को शब्दों में कहने की ज़रूरत नहीं है । अपने मन में दो एक बातें आईं, जैसे 'जिसमें रूप है सो द्रव्य है, जल में रूप है' बस 'जल द्रव्य है' यह बात फौरन मन में जम जाती है । इन बातों को भी स्पष्ट रूप से उच्चारण करने की जरूरत नहीं है । परंतु परार्थ अनुमान में जब तक पाचों वाक्य साफ साफ नहीं कहा जाय तब तक दूसरे आदमी का संदेह दूर नहीं हो सकता । इसी कारण से धर्मोत्तराचार्यने कहा है कि स्वार्थ अनुमान ज्ञानात्मक है और परार्थ शब्दात्मक है । और इसी आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि परार्थ अनुमान अनुमान ही नहीं है, उसको शब्द ज्ञान कहना उचित है । पर कुछ विचार करने से यह साफ मालूम होगा कि परार्थ अनुमान का रूप तो ऐसा है कि शब्दों से स्पष्ट कहना आवश्यक है । पर इन शब्दों से ज्ञान जो दूसरे आदमी के मन मे उत्पन्न होता है सो शब्दों ही से नहीं। शब्दज्ञान तो तब होता जब ' जल द्रव्य है ' इतना ही कहने से उसके मन में निश्चय हो जाता कि सचमुच जल द्रव्य ही है । ऐसा तो होता नहीं । पांचों वाक्यों को सुनकर वह आदमी विचार करता है और तब स्थिर करता है कि ऐसा ही है । असल में पांचो वाक्यों को वह आदमी फिर अपने मन में कह कर ही विश्वास करता है । इससे जैसा स्वार्थ अनुमान में विचार करने वाला जल में रूप होना रूप वाली चीज़ों का द्रव्य होना इत्यादि मन में लाकर जल का द्रव्य होना स्थिर करता है उसी तरह परार्थ अनुमान में भी उन्हीं बातों को विचार कर दूसरा आदमी विश्वास करता है कि जल द्रव्य है । फरक इतनाही होता है कि स्वार्थ अनुमान में किसी दूसरे से इन बातो के सुनने की जरूरत

नहीं होती परार्थ अनुमान में दूसरे का बताना आवश्यक होता है। पर इतनेही से इसको शब्दज्ञान कहना उचित नहीं है।

इसी कारण से गौतम ने अपने सूत्रों में 'स्वार्थ' और 'परार्थ' इन दोनों को अलग अलग दो तरह का अनुमान नहीं माना है। उन्होंने पंचम सूत्र में तीन प्रकार के अनुमान को 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' और 'सामान्यतोदृष्ट' बतलाया है। इसके व्याख्यान में वात्स्यायन भाष्य में कहा है कि—'पूर्ववत्' अनुमान उसे कहते हैं जिसमें कारण से कार्य का अनुमान किया जाय। जैसे मेघ को देखकर जब हम अनुमान करते हैं कि-अब पानी बरसेगा, क्योंकि मेघ पानी का कारण है-तो यही अनुमान 'पूर्ववत्' कहलाया। इसी तरह जहां कार्य से कारण का अनुमान होता है उसको 'शेषवत्' अनुमान कहते हैं। जैसे नदी में बाढ़ आई देख कर जब मैं 'पानी बरसा' ऐसा अनुमान करता हूं। क्योंकि नदी में पानी का बढ़ना पानी के बरसनेही से होता है, पानी बढ़ना बरसात का कार्य है, तो यही 'शेषवत्' अनुमान हुआ। एक जगह में एक अवस्था में एक चीज को देखकर फिर दूसरी जगह वैसीही अवस्था देखकर बिना देखे भी 'वह चीज यहां होगी' ऐसा जो अनुमान किया जाता है उसी को 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। जैसे हमने बारबार देखा है कि जो चीज एक जगह से दूसरी जगह जाती है वह चलती है। फिर सूर्य को देखते हैं कि वह एक जगह से दूसरी जगह जाता है, इस से हम अनुमान करते हैं कि 'सूर्य चलता है'।

इन तीनों की दूसरी व्याख्या भी भाष्य में यों की गई है। दो चीजों को देखा फिर कुछ बाद एक को देखा तो उसी से दूसरी चीज का भी जो अनुमान किया जाता है उसको 'पूर्ववत्' कहते हैं। जैसे धूआं और आग को देख कर फिर कुछ काल के पीछे जहां धूआं देखा वहां आग को न देखकर भी यहां आग जरूर होगी यह अनुमान किया जाता है। जितनी बातें एक चीज के विषय में हो सकती हैं उनमें से और सब का होना जब असम्भव पाया जाय तब जो बाकी रह जाय उसका अनुमान जब होता है

तब 'शेषवत्' कहलाता है। जैसे शब्द यातो द्रव्य या गुण अथवा कर्म हो सकता है यह जान कर फिर वह द्रव्य वा कर्म नहीं हो सकता इसे विचार कर फिर यह अनुमान किया जाता है कि वह गुण है, तो यही शेषवत् अनुमान हुआ। जब दो चीजों का सम्बन्ध हम जानते हैं पर उनमें से एक देखने के लायक नहीं है तब जो देखने योग्य है उसको देखकर दूसरी चीज का अनुमान किया जाता है वह 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है। जैसे इच्छा द्वेष इत्यादि देखकर आत्मा का अनुमान किया जाता है। पूर्ववत् अनुमान में जिस चीज का अनुमान किया जाता है उस जाति की चीज़ देखी गई है और देखी जा सकती है पर सामान्यतोदृष्ट से जिसका अनुमान किया जाता है उस का लक्षण उस जाति की चीज कभी देखी नहीं जा सकती है। यह मुख्य भेद इन दोनों अनुमानों में है। ये दोनों 'वीत' अनुमान भी कहलाते हैं इन में 'यह बात है' इसी से दूसरी बात का अनुमान किया जाता है जैसे 'धूआं है' इससे 'आग है' ऐसा अनुमान किया जाता है। शेषवत् को 'अवीत' भी कहा है। इसमें 'यह बात नहीं है' इससे दूसरी बात का अनुमान किया जाता है। जैसे 'शब्द द्रव्य वा कर्म नहीं है' इससे यह अनुमान होता है कि 'शब्द गुण है'।

ऊपर जो अनुमान के नमूने दिखलाये गये हैं। उन सभों में 'ऐसी बात है' इसीका सबूत है। इनको 'अन्वयी' अनुमान कहते हैं अकसर अनुमान ऐसे भी होंगे जिन में 'ऐसी बात नहीं है' ऐसा भी सबूत होता है। इन अनुमानों को 'व्यतिरेकी' अनुमान कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों ने इस विभाग को नहीं माना है। उसका कारण यह है कि 'ऐसी बात नहीं है' इसको यदि दूसरी तरह से हम कहें तो ऐसा भी कह सकते हैं कि 'इस बात का अभाव है'। तो यह भी 'अन्वयी' अनुमान ही होगा। इसी बात को प्राचीन ग्रीक नैयायिकों ने भी माना है। इसी से उनका कहना है कि सब शुद्ध अनुमान Barbara के रूप में बदले जा सकते हैं। जिनका यह रूपान्तर न हो सके वे शुद्ध

अनुमान ही नहीं है। परन्तु नवीन नैयायिकों ने अनुमान को तीन प्रकार का माना है-

(१) केवलान्वयी—अन्वयी हेतु से जो अनुमान किया जाय उसको केवलान्वयी अनुमान कहते है। अर्थात् जहां जहां हेतु है वहां वहां जो बात सबूत करतो है वह भी पाई जाती है। और हेतु ऐसा हो जिसका कि नहीं होना कहीं सम्भव न हो तो उस हेतु को केवलान्वयी हेतु कहते है। ऐसे हेतु से जो अनुमान होता है उसी को 'केवलान्वयी' अनुमान कहते हैं'। जैसे 'यह वस्तु अभिधेय है—अर्थात् इसका नाम कुछ जरूर है—क्यों की यह प्रमेय है—अर्थात् वह जाना जा सकता है। यहां पर 'प्रमेय' होना ऐसा हेतु है कि इस का नहीं होना कहीं कभी भी सम्भव नहीं है। कोई चीज ऐसी नहीं है जो जानी न जा सके।

(२) केवल व्यतिरेकी—जो हेतु ऐसा हो कि उसका होना सबूत करने वाली चीजों में कभी भी न हो तो उसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते है। और उससे जो अनुमान होता है उसको केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। जैसे—'जो चीज—घड़ा—मैं देख रहा हूं सो पानी या आग नहीं है—क्योंकि इसमें गन्ध पाई जाती है'—यहांपर गन्ध का होना ऐसा है कि वह कभी आग या पानी में हो ही नहीं सकता। इससे इसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

(३) अन्वयव्यतिरेकी—जो हेतु ऐसा हो की कहीं कहीं है और कहा कहीं न हो भी है तो उसको अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं और ऐसे हेतु से जो अनुमान किया जाता है वह 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान हुआ। जैसे 'जहां धूआं है तहां आग है जैसे रसोई घर में'। इस में अनुमान धूआं का होना कहा और देखा जाता है और 'जहां आग नहीं है वहां धूआं नहीं है जैसे कूप में' यहां धूआं का न रहना हेतु में कहा गया इसी से धूआं 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु हुआ।

यह विभाग असल में हेतु ही का विभाग हुआ और उसी के

द्वारा अनुमान का भी। इसी से प्राचीनों ने इस विभाग को नहीं कहा है।

प्राचीन नैयायिकों ने इन तीन प्रकारों को न मानकर केवल दो प्रकार का अनुमान 'वीत' और 'अवीत' माना है। 'ऐसी यह चीज है' यह जिस अनुमान से सबूत किया जाय उसको 'वीत' कहते हैं। और 'ऐसी यह चीज नहीं है'—यह जिससे सबूत किया जाय उसको 'अवीत' कहते हैं।

अनुमान के कहने में पांच वाक्योंकी जरूरत होती है सो कह आये है। जैसे—

" पर्वत में आग है।

" क्योंकि यहां धूआं देख पड़ता है

" जहां धूआं है वहां आग जरूर है जैसे रसोई घर में

" यहां पर धूआं है

" यहां पर आग है।

इन वाक्यों में 'पर्वत—आग-धूआं रसोई घर—यही चार चीजों के नाम पाये गये। (१] पर्वत वह है जिस में आग का होना सबूत करना है। इसको कहा है 'पक्ष' अर्थात् जिस के विषय में संदेह हो कि सबूत करनेवाली बात इस में है या नहीं (२] आग वह चीज है जिसका होना सबूत करना है। इस का नाम है 'साध्य' जिस को अनुमान से सिद्ध या सबूत करना है॥ (३] धूआं वह चीज है जिस के द्वारा आग का होना सबूत करते हैं। इस का नाम है 'हेतु' या 'लिंग'। (४) रसोई घर में आग और धूआं साथ पाया जाता है इसी के दृष्टान्त से पर्वत में धूआं के साथ आग का रहना सबूत करते हैं। इस को 'सपक्ष' कहते हैं। अर्थात् जिस में साध्य का रहना ठीक मालूम है॥ इसी तरह जिस में साध्य का न रहना ठीक मालूम हो उस को 'विपक्ष' कहते हैं॥

इन पांचों अवयवों में से और चार पर बहुत कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। परन्तु अनुमान का मूल है हेतु इस से इस का विचार आवश्यक है। अब यहां पर यह विचार किया जायगा कि हेतु वा लिंग क्या है, सत् वा अच्छा शुद्ध हेतु

कैसा होता है और असत् वा अशुद्ध बुरा हेतु कौन सा है इत्यादि। असत् हेतुओं ही का नाम हेत्वाभास है।

अनुमान के पांचो अवयवों में दूसरे का नाम कहा है 'हेतु' गौतम सूत्र में ऐसा ही कहा है। परन्तु यथार्थ में उस अवयव का नाम 'हेतुबचन' कहना ठीक है। ऐसा ही टीकाओं में कहा भी है। इस 'हेतु' या 'हेतुबचन' का लक्षण गौतम सूत्र भाष्य (१।४०) में यों किया है-यों धर्म उदाहरण या दृष्टांत में देखा गया है उसी का जो बात जहां सबूत करनी हो वहां रहना सूचित किया जाय जिस वाक्य से उसी को कहते हैं 'हेतु'। इस से 'हेतु' वा लिंग का लक्षण ऐसा निकला कि-'जो धर्म दृष्टांत में सबूत करनेवाली चीज के साथ देखा गया है और जहां पर वह चीज सबूत करनी है वहां भी वह धर्म हो वही धर्म हुआ 'हेतु' वा 'लिंग'। ठीक ठीक लक्षण इस का एक प्राचीन कारिका में यों कहा है—

[१] पक्ष में साध्य के साथ रहै—अर्थात् जहां पर जो चीज सबूत करना है वहां पर उस चीज के साथ रहै—

[२] सबूत कीजानेवाली चीज जहां जहां हो वहां वहां रहै। (३) जहां जहां सबूत करनेवाली चीज न रहे वहां वहां कभी न रहै—

ये तीन बातें जिस में पाई जावें वही है 'हेतु' वा 'लिंग'॥ जिस में ये तीनों बातें पाई जाएँ वह है 'सत् हेतु' और जिन में ये न पाई जाएँ वह है 'असत् हेतु'।

प्राचीन नैयायिकों ने हेतु के तीन विभाग नहीं माने हैं। गौतम सूत्र में तथा भाष्य वार्तिक में दो तरह का 'हेतु' बतलाया है। पहिला वह जो साधर्म्य या सादृश्य के द्वारा किसी बात को सबूत करती है —जैसे यहां आग है इस का सबूत 'यहां पर भी धूआं है और रसोई घर में जहां हम ने आग देखा है वहां भी धूआं था' इस से इस जगह के साथ रसोई घर का साधर्म्य या सादृश्य दोनों जगह धूआं का रहना हुआ, इस बात से जो यहां पर आग का अनुमान किया गया सो साधर्म्य हेतु द्वारा हुआ। यही अनुमान 'वीत' अनुमान हुआ। (स. १. १. ३४)। और जहां पर जिस चीज के प्रसङ्ग कुछ सबूत करना है उस के साथ कोई

दूसरी जानी हुई चीज के साथ किसी वैधर्म्य के द्वारा जो किसी बात को सबूत करे वह दूसरा वैधर्म्यहेतु हुआ। (सू० १. १. ३५) इस का उदाहरण न्यायवार्तिक में अच्छा देखलाया है — 'हमारा शरीर आत्मा से शून्य नहीं है क्योंकी यदि आत्मा नहीं होता तो इसमें ज्ञान भी न होता'। हम अपने शरीर में ज्ञान पाते हैं ईंट पत्थर में ज्ञान नहीं पाते यही हुआ दोनों का वैधर्म्य। फिर ईंट पत्थर में आत्मा नहीं है सो भी हम को मालूम है। इससे हम यों अनुमान कर लेते हैं कि यदि मेरे शरीर में भी आत्मा न होता तो इसमें ज्ञान भी न होता॥

इन दोनों तरहों के हेतु में असल फरक यह है कि साधर्म्य हेतु-जिसका दूसरा नाम अन्वयी हेतु भी है-उसके द्वारा चीजों का रूप कैसा है सो सबूत किया जाता है। और वैधर्म्यहेतु— जिसको 'व्यतिरेकी हेतु' भी कहते है—उस के द्वारा किसी चीज का रूप जो दूसरा आदमी मानता हो सो वैसा नहीं है यह सबूत किया जाता है।

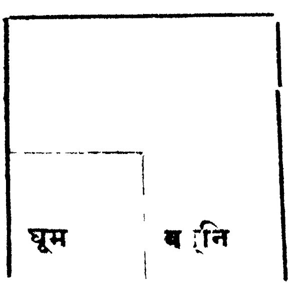
ये दो प्रकार के हेतु जो प्राचीनों ने माना है उसी से नवीन नैयायिकों ने तीन प्रकार निकाला है। ये तीन प्रकार यों हैं।

हेतु तीन तरह के होते हैं, जैसे पहले कह आये हैं। अन्वय-व्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी। जिस हेतु के निस्बत ऐसा समझा जाय कि जहां जहां वह है तहां तहां साध्य है और जहां जहां साध्य नहीं है तहां कहीं वह नहीं है, तो यह हुआ अन्वयव्यतिरेकी हेतु। अर्थात् इस हेतु का साध्य के साथ व्याप्ति अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह से हुआ। 'ऐसा है' यह जिस वाक्य में कहा जाय उसी को 'अन्वय' कहते हैं। और 'ऐसा नहीं है' यह जिसमें कहा जाय उसी को कहते हैं 'व्यतिरेक'। आग के सबूत करने में जब आग साध्य है, तब धूआं अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है। क्योंकि इन के निस्बत हम यह जानते हैं कि 'जहां जहां धूआं हैं वहां आग है जैसे रसोई घर में' और 'जहां आग नहीं हैं वहां कहीं भी धूआं नहीं है' जैसे तालाब में। इसमें दोनों तरह के दृष्टांत हैं। और दोनों तरह के हेतुओं में एकही तरह का दृष्टांत मिलता है। कोइ हेतु ऐसा

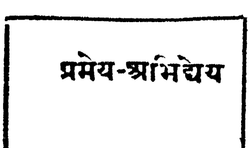
है जिसका नहीं होना कभी सम्भव नहीं, जैसे 'अभिधेय' 'प्रमेय' इत्यादि। क्योंकि ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो अभिधेय न हो, जिसका नाम नहीं हो। और न कोई ऐसी चीज है जो प्रमेय नहीं हो जिसका ज्ञान न होसके। इन हेतुओं के निसबत भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'जहां साध्य नहीं है वहां ये नहीं है॥ इससे इनके निसवत जब होगी तब अन्वयव्याप्ति ही होगी—'जहां प्रमेयत्व है वहां अभिधेयत्व है'—इसी लिये ये हेतु केवलअन्वयी हेतु कहलाये।

इसी तरह कई हेतु ऐसे हैं जिन के प्रसंग ऐसा दृष्टांत न पाया जाय जिससे यह सबूत हो सके कि जहां ये हैं तहां साध्य हैं। 'जैसे' पृथिवी और चीजों से भिन्न है क्यों की इस में गन्ध है'—यहां पर गंध है हेतु—इसके निसबत हम ऐसे ही दृष्टान्त पा सकते हैं जिससे यही सूचित हो की 'जहां इतर भेद नहीं है—अर्थात् जो पृथिवी से भिन्न है उनमें गन्ध नहीं है—जैसे जल में वायु में इत्यादि। पर ऐसा कोई भी दृष्टान्त नही मिलता जहां हम कह सकें की 'जहां गन्ध है वहा इतर भेद है' क्यों की गंध खाली पृथिवी में रह सकता है। इससे इसको छोड़ और कोई चीज ऐसी नहीं हैं जहां गंध पाया जाय या इतर भेद पाया जाय। इसी से इसको कहते है 'केवलव्यतिरेकी हेतु।

इनतीनो तरह के हेतुओं का ठीक ज्ञान नीचे के चित्रों से होगा-



अन्वयव्यतिरेकी



केवलान्वयी

गन्ध-पृथिवी (पृथिवीतरभेद)	पृथिवीतर	केवलव्यतिरेकी

प्राचीनों का विभाग बहुत ठीक था। 'ऐसी बात है' यह जिस से सिद्ध किया जाय वह हुआ अन्वयी हेतु और 'ऐसी बात नहीं है'-इसका सिद्ध करने वाला हुआ 'व्यतिरेकी हेतु। नवीनों ने जो तीन भेद बतलाये हैं उनके प्रसंग कई तरह की शंकाएँ उठती है।

यूरोप देश के तर्कशास्त्र (Logic) के पढ़ने वाले यह कहते हैं की अनुमान में एक बड़ी जाति से छोटी जाति का अनुमान होना उचित है अर्थात् व्यापक से व्याप्यका अनुमान होना चाहिये। जैसे धूम से आग का अनुमान। इससे अन्वयव्यतिरेकी हेतु ही ठीक है। केवलान्वयी में किसी व्यापक से व्याप्य का अनुमान नहीं होता, दोनों बराबर रहते हैं। जैसे जितनी चीजें अभिधेय हैं, जिनका नाम हो सकता है, वे सब प्रमेय भी है, जाने जा सकते हैं। इस से अभिधेयत्व से प्रमेयत्व का अनुमान ठीक नहीं। अर्थात् केवलान्वयी हेतु को असल हेतु नहीं मान सकते हैं।

इस शंका के मूल ही में कमजोरी देख पड़ती है। ऐसा किसने कहा है की व्यापक से व्याप्यके अनुमान ही को 'अनुमान' कहते हैं। इस बात को जो स्वीकार करेंगे उनके लिये अवश्य केवलान्वायी हेतु नहीं हो सकता। परंतु नैयायिकों ने ऐसा नहीं माना है। उनका कहना इतना ही है की जहां दो चीजों में नियत सम्बन्ध है वहां एक से दूसरे का अनुमान होता है। अभिधेयत्व और प्रमेयत्व का नियत सम्बन्ध है ऐसा सभी स्वीकार करते हैं। तब यदि अभिधेयत्व से प्रमेयत्व का अनुमान किया जाय तो इसमें क्या गलती हो सकती है।

केवलव्यतिरेकी के प्रसंग वेदान्त मीमांसा के प्राचीन ग्रन्थ-कारों ने भी शंका की है। 'पृथिवी और चीजों से भिन्न है क्योंकि इसमें गन्ध है' यही व्यतिरेकी अनुमान का उदाहरण है। जहां गन्ध है वह पृथिवी को छोड़ और चीजों से भिन्न है ऐसी व्याप्ति इस अनुमान का मूल नहीं मानी गई है। क्योंकी इस व्याप्ति के लिये पृथिवी को छोड़ कर कोई दृष्टान्त नहीं है। इससे इस अनु-

मान की मूलव्याप्ति को इस तरह से माना है–'जहां जहां गन्ध नहीं है वह चीज पृथिवी से भिन्न नहीं है ऐसा नहीं देखा जाता है' इसके लिये जल इत्यादि दृष्टान्त मौजूद हैं। इसके प्रसंग यह दोष दिया जाता है की व्याप्ति तो बतलाते हैं 'गन्धाभाव' (गन्ध का न होना) को और अनुमान कहते हैं 'गन्ध' से पृथिवी से भिन्न नहीं होने को। यह ठीक नहीं है।

इसका समाधान नैयायिकों ने जो दिया वह मन में ठीक नहीं बैठता।

वेदान्ती–और मीमांसकों ने व्यतिरेकी हेतु नहीं माना है। जो दृष्टान्त ऐसे अनुमानों का नैयायिकों ने दिखलाये हैं उनके लिये उन्होंने एक और प्रमाण 'अर्थापत्ति' नामका माना है। जहां पर जो बात ठीक देखी जाय वह बात यदि और एक दूसरी बात के बिना नहीं होती यदि ऐसा भी ठीक मालूम हो, तो पहली बात से दूसरी बात के होने का जो ज्ञान होता है सो अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। जैसे 'यहां गन्ध है' सो हम को साफ मालूम है–फिर हमें यह भी मालूम है कि जहां पृथिवी न हो वहां गन्ध नहीं रहता—इससे गन्ध के रहने से 'पृथिवी से अलग और कोई चीज़ यह नहीं है,—यह ज्ञान शुद्ध अर्थापत्ति ही हुआ।

प्रमाणों की संख्या कम रखने ही के आग्रह से नैयायिकों ने अर्थापत्ति न मानकर उस की जगह केवल व्यतिरेकी अनुमान माना है।

हेतु 'सत्' या 'शुद्ध' कैसा है सो ऊपर कह आये हैं। इससे यह मालूम है कि हेतु में इन तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) पक्ष में होना—(२) सपक्ष में होना—(३) विपक्ष में न होना। इसी से 'असत्' हेतु क्या है सो भी हम समझ सकते हैं। परन्तु किस तरह का दोष इस हेतु में है यह नहीं बतलाया जा सकता। इस लिये गौतम ने हेतुदोषों का बहुत अच्छी तरह वर्णन किया है। असत् हेतु को 'हेत्वाभास' कहते है। यद्यपि हेत्वाभास को गौतम ने तेरहवां पदार्थ माना है। इस से अन्त में इसका विचार करना सो ही क्रम

ठीक होता तो भी हेतु का विचार जहां है वहां ही उसके प्रसंग कुल बातों का विचार करना उचित मालूम पड़ता है।

जितने हेतु अनुमान में उपन्यस्त होते हैं वे सब साध्य के साथ रहने वाले समझे जाकर हेतु बनाये जाते हैं। साध्य साथ रहने वाले धर्म सोलह प्रकार के होते हैं—(१) साध्य से अतिरिक्त भी सभी पदार्थों के साथ जो सदा रहता है–जैसे 'प्रमेयत्व—जाना जाना' नित्य पदार्थों में भी है और अनित्य पदार्थों में भी।

(२) साध्य के सजातीय चीजों में रहे और किसी एक ऐसी जगह भी रहे जहां साध्य नहीं रह सकता—जैसे 'सींघ' कुल बैलों में भी है और भैंसों में भी रहता है।

(३) साध्य के सजातीय कुल चीजों में हो और जहां साध्य नहीं है वहां कभी भी न हो–जैसे 'उत्पत्ति होना' कुल अनित्य चीजों में है—नित्य चीजों में कहीं भी नहीं।

(४) साध्य के सजातीय किसी चीज में न हो–जहां जहां साध्य नहीं है वहां सब जगह हो—जैसे 'उत्पन्न का होना' यदि नित्य सिद्ध करने में हेतु कहा जाय तो यह ऐसा हेतु है जो किसी नित्य वस्तु में नहीं है--सकल अनित्य चीजों में है॥

(५) साध्य के सजातीय में कहीं भी न हो, जहां साध्य नहीं है तैसा एक जगह में हो--जैसे 'जाति और व्यक्ति रूप से रहकर बाह्यइन्द्रियों से जाना जाना' कुल नित्य चीजों में नहीं पाया जाता है। और कई अनित्य चीजों में पाया जाता है।

(६) जो साध्य के सदृश चीजों में न हो--और जहां साध्य नहीं है वहां भी न हो–जैसे 'कान से सुना जाना' नित्य चीजों में नहीं है–और न अनित्यही चीजों में, केवल शब्द में पाया जाता है॥

(७) साध्य के समान किसी एक चीज में हो—पर जहां साध्य नहीं है वैसा सब जगहों में हो–जैसे 'सींघ' भैंस में है, जो 'अगौः, गाय नहीं' है और 'अगौः जहां नहीं है' अर्थात् कुल गावों में भी है। इत्यादि न्यायवार्तिक (पृ. १६६. ७) में गिनाया है। इसी तरह हिसाब करने से दो हजार से ऊपर

संख्या तक बतला कर इनके अनन्त भेद हो सकते हैं ऐसा कहा है इन में पांच तो असल 'हेतु' है—और सब गलत हेतु—या हेत्वाभास हैं।

पर यहां केवल गौतम सूत्र में गिनाये हुए पांच प्रधान हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं।

(१) सव्यभिचार (अनैकान्तिक)-(२) विरुद्ध—(३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)—(४) (असिद्ध) साध्यसम—(५) कालातीत (बाधित)-ये पांच हेत्वाभस गौतमसूत्र में (१. २. ४—९) निरूपित है।

(१) सव्यभिचार।

(१) सव्यभिचार (जिसको नवीन ग्रन्थकार 'अनैकान्तिक' भी कहते हैं) हेतु वह है जो साध्य के साथ भी रहे और उससे फरक भी रहे। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकी इसका स्पर्श नहीं हो सकता' यदि ऐसा अनुमान किया जाय तो यहां स्पर्श का न होना' है हेतु और 'नित्य' है साध्य। और हम देखते हैं की यद्यपि घड़ा इत्यादि पदार्थों में 'स्पर्श का न होना' और 'नित्यता' दोनों साथ पाये जाते हैं तथापि और कितनी चीज हैं जहा दोनों साथ नहीं है—जैसे पृथ्वीपरमाणु में यद्यपि स्पर्श है तथापि वह अनित्य है और बुद्धि में यद्यपि स्पर्श नहीं है तथापि वह अनित्य है। इससे 'नित्यता' सिद्ध करने में 'स्पर्श का न होना सव्यभिचार हेतु हुआ। क्योंकि पृथिवी परमाणु में और बुद्धि में दोनों का 'व्यभिचार' पाया जाता है-अर्थात् दोनों साथ नहीं पाये जाते। इसको 'अनैकान्तिक' इस लिये कहते हैं की किसी चीज का होना हुआ एक 'अन्त'-उसी का न होना हुआ दूसरा 'अन्त'। 'है' या 'नहीं है' यह एक बात के साथ जो रहे सो हुआ 'एकान्त' जो एक के साथ नहीं बलिक दोनों के साथ रहे वही हुआ 'अनैकान्तिक'॥ यह हेतु दुष्ट इस से हुआ कि ऐसे हेतु से 'है' 'नहीं है' यह दोनों सिद्ध हो सकता है। जैसे 'यह नित्य है क्योंकी इसका स्पर्श नहीं होता-जैसे आत्मा' इस अनुमान से नित्यता सिद्ध होती है। इसी तरह 'यह अनित्य है क्योंकि

इसका स्पर्श नहीं होता—जैसे बुद्धि'—इस से अनित्यता भी सिद्ध होती है।

सव्यभिचार हेतु दो तरह का होता है। (१) साधारण—वह हेतु है जो पक्ष में भी है—जहा साध्य है वैसी सब जगह में है-और जहां साध्य नहीं है वैसी भी सब जगहों में है। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकी वह जाना जाता है'। यह 'जाना जाना' शब्द में है—आत्मा आकाश जितनी नित्य चीजें हैं उन में है-और घड़ा कपड़ा इत्यादि जितनी अनित्य चीजें हैं उनमें भी हैं। (२) असाधारण—जो खाली पक्ष में हो और कहीं भी न हो—जैसे 'पृथिवी नित्य है क्योंको इसमें गन्ध है' यहां 'गन्ध' केवल पृथिवी में है और किसी भी नित्य या अनित्य चीज में नहीं है—ऐसे हेतु से कुछ भी सबूत नहीं हो सकता॥ कुछ नविन नैयायिकों ने 'अनुपसंहारी' एक तीसरा भी भेद सव्यभिचार का माना है। अनुपसंहारी हेतु वह है जो पक्ष को छोड़ कर और कही भी साध्यके साथ न पाया जाय। प्राचीनों ने इसको नहीं बतलाया क्योंकी ऐसा हेतु केवल उसी अनुमान में पाया जाता हैं जिसमें 'कुल चीजें' पक्ष हों। जैसे 'कुल चीजें अनित्य हैं,क्योंकी वे प्रमेय हैं' यहां कुल चीजों का छोड़ कर और कोई चीज नहीं है जो दृष्टान्त हो सके। दृष्टान्त होने से पंच अवयव पूरे न होने से अनुमान का स्वरूप पूरा न होता—यही इसमें दोष है। असल में हेतु दुष्ट नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमेय वस्तु अनित्य हो तो कुल चीजों का अनित्य होना सिद्ध होहीगा। यदि प्रमेय वस्तु नित्य अनित्य दोनों है इससे हेतु दुष्ट हुआ तो यह 'साधारण' ही में आ गया फिर तीसरा प्रकार मानने से फल ही क्या। इससे प्राचीनों का दोही भेद ठीक शान होता है।

(२) विरुद्ध।

जो बात सबूत करना है उसका उल्टा ही जिस हेतु से सिद्ध हो उसको 'बिरुद्ध' हेतु कहते हैं। जैसे, 'यह पानी ठंढा है—क्योंकी अभी आग पर चढ़ा है'। जो सिद्धान्त मान लीया गया है जिसका सबूत करना इष्ट हो—उसका उलटा ही जो सिद्ध करे, और सिद्धान्त को मिथ्या ही सिद्ध कर दे ऐसे हेतु को भी विरुद्ध

कहते हैं॥ (गौतमसूत्र १। २।)। "अनैकान्तिक' और विरुद्ध हेतु में यहा भेद है की जो बात जहा सबूत करना है उससे दूसरी जगह भी जो रहता है उसे 'अनैकान्तिक' या 'सव्यभिचार' कहते है—इससे इतना ही होता है की जो सबूत करना है वह अच्छी तरह से सबूत नहीं होता—और 'विरुद्ध' हेतु से सिद्धान्त सबूत सबूत नहीं होता इतनाही नही बल्कि उसका उलटी ही बात सबूत होती है। जैसे 'देवदत्त पंडित हैं क्योंकि वह आदमी हैं'—यहां पर 'आदमी होना' यह हेतु सव्यभिचार हुआ क्योंकि बहुतेरे आदमी ऐसे हैं जो पंडित नहीं है-इससे आदमी होने से 'पंडित होना' पक्की तरह से सबूत नहीं होता। और 'पानी ठंढा है क्योंकी आग पर चढ़ा है' यहा पर 'आग पर चढ़ा रहना' इससे पानी का ठंढा होना सबूत नहीं होता इतना ही नहीं—बल्कि उसका उलटा गरम होना सिद्ध होता है।

(३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)

असल बात क्या है सो जहां निश्चय न हो-'ऐसी बात है या वैसी है' यह जहां साफ न मालूम हो-ऐसी हालत में यदि कोई बात ऐसी कही जाय जिसमे किसी एक तरफ की सफाई असल में नहीं होती पर तौभी वह बात एक तरफ के सबूत करने के लिये पेश की जाय-तो इसी को 'प्रकरणसम' हेतु कहते हैं-यह लक्षण गौतम सूत्र १, २., मे पाया जाता है। इस का साफ मतलब वार्तिकमे यों कहा है-"जहां किसी चीज के दो गुणों में असल में एक भी साफ या ठीक न मालूम हो वहां इनमें से कोई एक यदि किसी बात के सबूत में पेश कीया जाय तो वही प्रकरणसम है।" 'प्रकरण' का अर्थ भाष्य मे कहा है-जो सबूत करना है सो बात और उसके विरुद्ध जो बात है ये दोनों जहां अनिर्णीत रहते हैं-ऐसी बात है या वैसी यह जहां साफ नहीं मालूम रहता-वही हुआ 'प्रकरण'। इसके 'सम'-बराबर-वह हेतु है जिससे इधर या उधर की किसी एक बात का सबूत न हो सके। इस हेतु का उदाहरण-'शब्द अनित्य है क्योंकी इसमें नित्यधर्म कोई नहीं पाये जाते। यहां पर असल में शब्द में जैसे नित्य धर्म नहीं पायें जाते' वैसे अनित्य

धर्म भी नहीं पाए जाते। इस से शब्द के दो गुण-नित्यधर्म वा अनित्यधर्म--एक भी ठीक नहीं मालूम होता। इससे असल में यह नहीं मालूम हो सकता कि शब्द नित्य है या नहीं। ऐसी दशा में शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिये इन दोनों में से एक गुण यदि पेश किया जाय तो यही 'प्रकरणसम' हेतु कहलाता है।

तर्कभाषा में इसका लक्षण ऐसा कहा है—जो हेतु पेश किया जाय उससे जो बात सिद्ध करना है वही साबित होती है पर उसी के साथ साथ यदि यह भी पाया जाय कि उस बात का उलटा साबित करने के लिये कोई दूसरा हेतु भी वैसा ही मज़बूत है, तो ऐसी दशा में ये दोनों हेतु 'प्रकरणसम' होंगे। ऊपर कहे हुए उदाहरण में नित्य धर्म के न पाए जाने से शब्द का अनित्य होना जिस प्रकार साबित होता है उसी तरह अनित्य धर्म के न पाए जाने से उसका नित्य होना भी साबित होता है। इससे ये दोनों हेतु अर्थात् 'अनित्य धर्म का न पाया जाना' और 'नित्य धर्म का न पाया जाना'-प्रकरण सम हुए। इसी को नवीन नैयायिक 'सत्प्रतिपक्ष' भी कहते हैं। इसमें दोनों हेतु बराबर बलवान होते हैं। उनकी मज़बूती में कुछ भी कमी वा अधिकता नहीं रहती। कमी बेशी होने से जो अधिक बलवान होगा उस से दूसरे का बाध हो जायगा और वह हेतु 'बाधित हेत्वाभास' हो जायगा। विरुद्ध हेतु से 'प्रकरणसम' हेतु का फ़रक यही है कि 'विरुद्ध' हेतु से दोनों तरह की बात साबित होती है जैसे 'शब्द नित्य है क्यों कि वह उत्पन्न होता है' इस अनुमान में 'उत्पन्न होता है' इस से नित्यत्व सिद्ध किया जाता है, और इसी हेतु से शब्द का अनित्यत्व भी सिद्ध होता है। इसमे एकही हेतु से साध्य और साध्य का उलटा दोनों साबित किया जाता है। पर 'प्रकरणसम' हेतु में ऐसा नहीं होता। इसमें साध्य के साबित करने में एक हेतु पेश होता है, और उसका उलटा साबित करने में दूसरा हेतु पेश होता है जो उतना ही बलवान होता है। विरुद्ध से साध्य का उलटा सिद्ध होता है और प्रकरणसम में यह कमज़ोरी होती है कि उलटा साबित करने के लिये भी वैसाही ज़बरदस्त हेतु मौजूद रहता है।

साध्यसम (असिद्ध)

जो हेतु किसी बात के सिद्ध करने में पेश किया जाय वह यदि खुद भी सन्दिग्ध ही हो, उसके विषय में भी शक हो, तो वह हेतु 'साध्य-सम' कहलाता है। जैसा सन्देह साध्य के विषय में है—जिस सन्देह के दूर करने के वास्ते अनुमान पेश किया जाता है-वैसा ही सन्देह यदि हेतु के विषय मे भी हो तो वह हेतु साध्य के सम अर्थात् बराबर हुआ। इसी से उसे "साध्यसम" कहते हैं। जैसे-'छाया द्रव्य है क्योंकि वह चलती है' इस अनुमान में 'छाया का चलना' हेतु है लेकिन छाया के चलने में उतना ही सन्देह है जितना उसके द्रव्य होने में। इससे यह हेतु 'साध्यसम' हुआ। इसीको 'असिद्ध' भी कहते हैं। यह नाम (साध्यसम) वार्तिक में पाया जाता है और भाष्य में भी आया है।

जैसे 'असिद्ध' हेतु साध्य का व्याप्य नहीं होता वैसे ही 'सव्य-भिचार' हेतु भी है। इससे इन दोनों का भेद साफ़ नहीं मालूम हो सकता। भेद सूक्ष्म है। 'सव्यभिचार' में यह निश्चय रहता है कि हेतु साध्य का व्याप्य नहीं है। इसमें अनुमान की जड़ जो व्याप्ति सो इस में नहीं रहती। पर 'असिद्ध' में हेतु साध्य का व्याप्य है या नहीं, इसका निश्चय नहीं रहता वरन् इसमें पूरा शक पैदा हो जाता है जिससे व्याप्ति की मज़बूती जाती रहती है और कमज़ोर व्याप्ति के आधार पर अनुमान दृढ़ नहीं हो सकता।

साध्यसम या असिद्ध हेतु तीन प्रकार के होते हैं। वार्तिक में इन तीनों प्रकारों का नाम यों लिखा है (१) प्रज्ञापनीयधर्मसमान जिसको तात्पर्य टीका में 'असिद्ध' और नवीन ग्रन्थों में 'स्वरूपासिद्ध' भी कहा है। (२) आश्रयासिद्ध। (३) अन्यथासिद्ध जिसे नवीन ग्रन्थों में 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा है। स्वरूपासिद्ध हेतु का उदाहरण इस प्रकार है—"घोड़ा गाय है क्योंकि उसके सींग है"। यहां सींग का होना घोड़ों में कभी सम्भव नहीं है। इससे यह हेतु स्वरूप ही से, अपने स्वभाव से ही, असिद्ध हुआ। भाष्य में तीनों प्रकार का एक ही उदाहरण कहा गया है। 'छाया द्रव्य है क्योंकि

वह चलती है'। इस में जिस प्रकार छाया का द्रव्य होना सिद्ध करना है वैसेही उसका चलना भी सिद्ध करना है। इस से छाया का चलना असिद्ध हुआ।

आश्रयासिद्ध का उदाहरण वार्तिक में इस प्रकार बतलाया गया है-'छाया द्रव्य है-क्योंकि वह चलती है'। इस अनुमान में छाया का चलना हेतु रक्खा गया है। परंतु छाया का चलना तब तक नहीं माना जा सकता जब तक पहिले ही उसका द्रव्य होना भी न मान लिया जाय। और यदि उसका द्रव्य होना मान ही लिया जाय तो फिर अनुमान का प्रयोजन ही क्या रह जायगा? द्रव्य ही चल सकता है, द्रव्य ही चलने का 'आश्रय' हो सकता है। इससे जब तक छाया का द्रव्य होना न सिद्ध हो तब तक वह चलने का 'आश्रय' ही नहीं है। इससे यह हेतु आश्रयासिद्ध हुआ।

आश्रयासिद्ध हेतु का दूसरा उदाहरण वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है-'ईश्वर संसार का कर्ता नहीं है-क्योंकि उसको शरीर नहीं है'। इस अनुमान में ईश्वर के 'शरीर का न होना' तब तक हम नहीं मान सकते जब तक यह न मान लिया जाय कि 'वह कर्ता नहीं है।' इससे 'शरीर का न होना' इसका आश्रय नहीं रहा। नवीन ग्रन्थों में आश्रयासिद्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है—'जिस हेतु का आश्रय हो ही नहीं अर्थात् जिस चीज़ में हेतु का रहना बतलाया जाय वह चीज़ ही यदि ऐसी हो कि उसका होना सर्वथा असम्भव हो तो वह हेतु आश्रयासिद्ध हुआ। उदाहरण—'अमर आदमी को दो आंखें हैं क्योंकि वह आदमी है'-इस अनुमान में 'आदमी का होना' हेतु है। उस हेतु का रहना 'अमर आदमी' में बतलाया जाता है। पर अमर आदमी का होना सम्भव ही नहीं है। इससे यह आश्रयासिद्ध हुआ।

एक लक्षण 'आश्रयासिद्ध' का ऐसा भी किया गया है कि जिसके पक्ष में पक्ष का लक्षण ही न हो। किन्तु यह दोष तो पक्ष का होगा न कि हेतु का। यदि पक्ष असम्भव है तो यह दोष पक्ष का हुआ। इससे प्राचीनों का जो उदाहरण है वही ठीक मालूम पड़ता है। उन उदाहरणों से 'आश्रयासिद्ध' का यह लक्षण आता है कि

जिस हेतु का जो पक्ष आधार बतलाया जाय वह यदि ऐसा हो कि उसका निश्चय न हुआ हो तो वह हेतु आश्रयासिद्ध होता है'। इसी लक्षण से यह 'असिद्ध' का एक अवान्तर भेद हो सकता है। और 'जिसके पक्ष में पक्ष के लक्षण न हों' ऐसा यदि आश्रयासिद्ध का लक्षण किया जाय तो यह 'असिद्ध' का अवान्तर भेद कैसे होगा? असिद्ध का लक्षण सूत्र में कहा है 'जिसका साबित करना वैसा ही आवश्यक हो जैसा साध्य का'। 'अमर आदमी के दो आंखें हैं—क्योंकि वह आदमी है' या 'गगनकुसुम में सुगन्ध है-क्योंकि वह कुसुम है'। इन अनुमानों में हेतु ऐसे नहीं हैं जिनको साबित करने की जरूरत हो। आदमी तो आदमी है ही, कुसुम तो कुसुम है ही, फिर ये हेतु 'असिद्ध' किस तरह कहे जा सकते हैं? परन्तु 'छाया द्रव्य है क्योंकि वह चलती है' इसमें 'छाया चलती है' इस बात के साबित करने की उतनी ही ज़रूरत है जितनी छाया के द्रव्य होने की।

जिस बात के साबित करने के लिये कोई ऐसा हेतु उपस्थित किया जाय कि उस हेतु के बिना भी वह बात सिद्ध समझी जाय तो उस हेतु को 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं। जहां ऐसा हो वहां हेतु साध्य का व्याप्य नहीं माना जा सकता। अर्थात् 'जहां जहां हेतु है वहां वहां साध्य है' यह वहां पर नहीं कहा जा सकता। इसी से इसको 'व्याप्यत्वासिद्ध' भी कहा है अर्थात् जिस हेतु में साध्य का व्याप्य होना सिद्ध न हो। जैसे-"यह पंडित है-क्योंकि काशी में रहता है"। 'जो काशी में रहते हैं वे सब पंडित होते हैं' ऐसा यदि पाया जाता तो यह अनुमान ठीक होता। लेकिन ऐसा नहीं पाया जाता। 'काशी में रहना" इसके स्थान पर 'मेहनत से पढ़ना' इत्यादि दूसरे ही कारण 'पंडित होने' के पाए जाते हैं। इससे 'काशी में रहना' यह हेतु 'पंडित होना' जो साध्य है उस का 'व्याप्य' नहीं हुआ। इसी से वह 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेतु हुआ।

स्वरूपासिद्ध से इसका यह भेद है कि स्वरूपासिद्ध हेतु

पक्ष में नहीं रहता। व्याप्यत्वासिद्ध हेतु पक्ष में तो रहता है पर वह साध्य का व्याप्य नहीं रहता।

साध्य का व्याप्य न होना दो तरह से हो सकता है। (१) एक तो इस प्रकार से जिसमें साध्य के साथ हेतु का रहना ठीक ठीक साबित न हुआ हो। जैसे 'शब्द क्षणिक है क्योंकि वह सत् है'-इस अनुमान में 'जो सत् है सो क्षणिक है' यह ठीक ठीक साबित नहीं है, इससे यह नहीं माना जा सकता। (२) दूसरा वह जो साध्य के साथ तो पाया जाता हो पर जिस रूप से अनुमान में कहा गया हो उस रूप से न होकर उसी हेतु में कुछ और विशेषण लगाने पर उस हेतु का साध्य के साथ रहना उसका ठीक माना जा सकता हो। जैसे 'यह पंडित है क्योंकि काशी में रहता है'—'यहां काशी में रहना' 'पंडित होने' के साथ पाया तो जाता है-पर केवल 'काशी में रहना' इसका हेतु नहीं है। 'काशी में रहना और मेहनत से पढ़ना' इसका हेतु कहा जा सकता है। अर्थात् हम ऐसा पाते हैं कि काशी में रह कर जो कोई 'मेहनत से पढ़ता है' वह अवश्य पंडित होता है। इससे ' काशी में रहना ' इसमें 'मेहनत से पढ़ना' ऊपर से विशेषण लगा देने से 'पंडित होना' इस साध्य का व्याप्य हेतु होता है।

जिस विशेषण को इस तरह ऊपर से लगाना पड़ता है उसका नाम है 'उपाधि'। इसका लक्षण उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है। 'किसी अनुमान में जो साध्य का व्यापक होकर हेतु का अव्यापक हो वही उस अनुमान में उपाधि है'। जैसे 'यह पंडित है क्योंकि काशी में रहता है' इस अनुमान में 'मेहनत से पढ़ना' एक ऐसी बात है जो साध्य का अर्थात् 'पंडित होने का व्यापक है। 'जो जो पंडित है वे सब मेहनत से पढ़ते हैं'। पर 'काशी में रहना' जो हेतु बताया गया है-इसका व्यापक 'मेहनत से पढ़ना' नहीं है। अर्थात् 'जो काशी में रहता है वह मेहनत से पढ़ता है'-ऐसा नहीं पाया जाता। इससे इस अनुमान में 'मेहनत से पढ़ना' उपाधि हुआ।

कालातीत (कालात्ययापदिष्ट—बाधित)

सूत्र भाष्य और वार्तिक में बतलाया है कि जो हेतु अनुमान में उपन्यस्त होता है वह यदि ऐसा पाया जाय कि जिस समय पर उस हेतु का रहना बतलाया जाता हो, उस समय वह न रहता हो तो वह हेतु 'कालातीत' अर्थात् अपने समय से हटा हुआ कहलाता है। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकि वह संयोग से उत्पन्न होता है'। इस अनुमान में हम देखते है कि जिस समय हम शब्द सुनते हैं उस समय उसका किसी से सयोग नहीं पाते। हेतु के बतलाने का समय कौन सा है जिसके बीत जाने से या जिस वक्त हेतु के न रहने से वह 'कालातीत' होता है—इस बात को विचार कर वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जब किसी बात के विषय में ऐसा सन्देह रहे कि 'यहां ऐसा है या नहीं'—'यहां आग है या नहीं'—तो ऐसी हालत में 'हेतु' पेश किया जाता है—'यहां ऐसा है क्यों कि हम यहां ऐसा हेतु पाते हैं'—'यहां आग जरूर है क्यों कि हम यहां धुआं देखते हैं'। यदि इस तरह का सन्देह हो न रहे, यदि 'ऐसा ही है' या 'ऐसा नहीं है' यह ठीक मालूम हो जाय तो किसी हेतु के कहने का काल (समय) नहीं रहता। ऐसे काल में उपन्यस्त हेतु को 'कालातीत' कहते हैं। पर यहां इतना फरक होगा कि यदि 'ऐसा है' यह ठीक मालूम हो तो वहां ऐसा होने के हेतु का बतलना खाली व्यर्थ कहा जा सकता है, अशुद्ध नहीं। पर जहां 'ऐसा नहीं है' यह ठीक मालूम हो तो 'ऐसा है' इसका हेतु यदि बतलाया जाय तो अशुद्ध ही होगा। जैसे 'आग गरम है' यह हम प्रत्यक्ष जानते है। ऐसी हालत में यदि यह अनुमान किया जाय कि 'आग ठंढी है क्यों कि वह चमकती है—जैसे पानी'—तो यह हेतु अशुद्ध जरूर होगा। इसी हेतु को 'कालातीत' या 'कालात्ययापदिष्ट' कहते हैं। ऐसा साफ लक्षण वार्तिक में नहीं पाया जाता। इसको वाचस्पति मिश्र ने साफ़ किया है। ऐसे हेतु का विषय जो बात हमको ठीक मालूम है उसके खिलाफ पड़ता है। इस से नवीनों ने इस का नाम 'बाधित' वा 'बाधित विषय' भी रक्खा है।

सत्प्रतिपक्ष से इसका फरक यह है। सत्प्रतिपक्ष हेतु वह होता है जिसके निसबत ऐसा पाया जाता है कि उस हेतु से 'ऐसा

है' सो साबित होता है-और एक दूसरा हेतु वैसा ही जबरदस्त पाया जाता है जिससे 'ऐसा नहीं है' सो भी सिद्ध होता है। दोनों हेतु इसमें बराबर जबरदस्त रहते हैं। इससे ठीक बात क्या है, इसका सन्देह बना ही रहता है। परन्तु 'बाधित' हेतु के विषय में ऐसा पाया जाता है कि 'ऐसा नहीं है' इसके सबूत में उस हेतु से ज्यादा जबरदस्त दूसरा हेतु रहता है। इससे 'ऐसा नहीं है' सो ठीक ही रहता है और सन्देह नहीं रहता।

हेतु के पांचों दोष यों वर्णित किए गए हैं। अनुमान के पांच अवयव होते हैं। अनुमान के जितने दोष होते हैं सब इन्हीं पांचों हेत्वाभासों में अन्तर्गत हैं या इनसे अलग हैं? अनुमान के पक्ष में दृष्टांत में, साध्य में—सभी में कुछ न कुछ दोष हुआ करते हैं। इन का निरूपण गौतम ने किया या नहीं? यदि किया तो कहां किया? यदि नहीं किया तो क्यों नहीं किया? धर्मोत्तराचार्य ने अपनी न्यायबिन्दुटीका में जैसे हेत्वाभासों का वर्णन किया है वैसे ही दृष्टांताभास का भी किया है। फिर क्या कारण है कि गौतम के सूत्रों में या भाष्य वार्तिक इत्यादि ग्रन्थों में इनकी चर्चा नहीं पाई जाती? जो लोग ऐसी शंका करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि अनुमान के कुल दोषों को गौतम ने हेत्वाभासों ही में नहीं कह दिया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे अनुमान और तर्क इत्यादि के दोष गौतम ने 'जाति 'छल' निग्रहस्थान' इत्यादि नामों से कहे हैं जिनका निरूपण आगे किया जायगा। फिर 'अन्योन्याश्रय' 'अनवस्था' 'चक्रक' इत्यादि कितने एक दोष तर्क के और भी ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

यद्यपि ये सब तर्क, अनुमान इत्यादि के दोष बहुत से बतलाए गए हैं तथापि यदि विचार किया जाय तो अनुमान के जितने अंग हैं हेतु, पक्ष, साध्य दृष्टांत इत्यादि—इनके जितने दोष होंगे लगभग सभी पांचों हेत्वाभासों ही में अन्तर्गत होंगे। अनुमान के तीन प्रधान वाक्य होते हैं-(१) पक्षता, अर्थात् पक्ष ऐसा हो जिसमें साध्य है या नहीं यह साबित करना बाकी हो (२)पक्ष धर्मता अर्थात् हेतु पक्ष में है इसका निरूपण (३) जहां जहां हेतु है वहां साध्य है, इसका निरूपण। अब इनमें से पक्ष धर्मता में जो भूल होगी

वह हेतु को ही बिगाड़ेगी-इससे पक्षधर्मता के दोष सब हेतुदोष ही होंगे। पक्ष में दो तरह की गलतियां हो सकती हैं। या तो वैसी कोई चीज़ ही न होगी, अथवा अगर होगी भी तो उसमें हेतु का रहना ही असम्भव होगा। यदि ऐसी चीज़ ही न हो तो हेतु का आश्रय नहीं रहेगा और हेतु 'आश्रयासिद्ध' ही होगा। यह दोष हेतु ही का होगा। अगर पक्ष में हेतु नहीं रहेगा तो यह दोष भी हेतु ही का होगा। यह दोष 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होगा। इसके सिवाय यदि व्याप्ति में दोष होगा तो हेतुही में व्यभिचार दोष होगा। यह 'सव्यभिचार' हेत्वाभास होगा।

आगे चल कर जो निग्रहस्थान, छल, जाति-इत्यादि बतलाए जायंगे-वे सभी किसी न किसी तरह से हेतुदोष ही ठहराए जा सकते हैं। इस तरह अनुमान के कुल दोषों को हेतुदोष ही में अन्तर्गत करने से एक बड़ा उपकार यह होता है कि इनका पकड़ना सुगम हो जाता है। केवल हेतु को अच्छी तरह देखने ही से अनुमान के कुल दोष नज़र पर चढ़ जाते हैं। अंगरेज़ी न्याय में किसी अनुमान के विचार में प्रत्येक टर्म के ऊपर विचार करना पड़ता है कि कौन 'टर्म' किस 'प्रेमिस' में 'Distributed' है। फिर प्रत्येक प्रेमिस पर भी विचार करना पड़ता है। फिर प्रेमिसों के साथ Conclusion का सम्बन्ध इत्यादि अनेक विषय पर अनेक विचार करने पर यह समझ सकते हैं कि अनुमान शुद्ध है वा अशुद्ध। संस्कृत न्याय में ऐसा नहीं है। केवल हेतु का विचार कर लेने से, इस में पांचों हेत्वाभास के लक्षण घटते हैं या नहीं—इतना ही ठीक कर लेने से, अनुमान का शुद्ध वा अशुद्ध होना साफ मालूम हो जाता है। ग्रीक न्याय और संस्कृत न्याय में एक और बड़ा भेद यह है कि ग्रीक में 'ऐसा है' 'ऐसा नहीं है' इसको दो तरह से परस्पर विरुद्ध रूप से लिखते हैं। इस से 'अन्वयी' वाक्य -'ऐसा है'-और व्यतिरेकी वाक्य- ऐसा नहीं है'-इनको पृथक् पृथक् मानकर अनेक प्रकार के 'मूड' माने गए हैं जिस से चार 'फिगर के कुल मूड' के क्रम से अनुमान के दोष का विचार बहुत कठिन हो जाता है और किसी प्रकार के दोष का निश्चय जल्दी नहीं हो सकता। खास कर जब पहिले 'फिगर' के रूप में अनुमान को लाना

होता है तब 'आबवर्शन'(obversion) करना पड़ता है-जिससे अक्सर वाक्य का मतलब खत्त हो जाता है। संस्कृत में 'अभाव' पद के प्रयोग से कुल बातों को 'ऐसा है' इसी रूप से कर लेने से कुल अनुमान वाक्य इसी 'अन्वयी' रूप से कर लिए जा सकते हैं और वाक्यों के लिखने का भी क्रम ऐसा रक्खा गया है कि किसी तरह का कोई अनुमान क्यों न हो सब एक ही क्रम से लिखा जा सकता है। इससे हेतुदोष का पकड़ना बहुत सुगमता से होता है।

ग्रीक न्याय के मुख्य हेत्वाभास तीन प्रकार के हैं-'अनडिस्ट्रिब्यूटेड मिडल' 'Undistributed middle' जिसमें 'हेतु' किसी वाक्य में अपने कुल रूप से न कहा गया हो-(2)'इलिसिट प्रोसेस आफ़ दी मेजर टर्म' (Illicit Process of the major term)—जिसमें 'साध्य' परामर्शवाक्य में तो कुछ अंश लेकर कहा जाय पर प्रतिज्ञा में अपने सम्पूर्ण रूप से कहा जाय (३) 'इलिसिट प्रोसेस आफ दी माइनर टर्म' (Illicit Process of the minor term—जिसमें पक्ष परामर्शवाक्य में अंश लेकर कहा जाय और प्रतिज्ञा में कुल रूप से।

अनडिस्ट्रिब्यूटेड मिडल का उदाहरण है 'कांच सोना नहीं है—क्योंकि वह चमकता है—जो चमकता है सो सोना नहीं है—जैसे हीरा'—इसमें किसी वाक्य में भी 'चमकती हुई चीज़ें' सब नहीं ली गई हैं। संस्कृत न्याय में यह 'साधारण' हेत्वाभास हुआ।

इलिसिट मेजर का उदाहरण—

'जिसको सब लोग मानते हैं वह सत्य है
'ईश्वर को सब लोग नहीं मानते
'इससे ईश्वर सत्य नहीं है'—

यहां पर 'सत्य' सिद्धान्त में अपने कुल रूप से कहा गया है-पर पहिले वाक्यों में केवल अंश रूप से। अर्थात् 'ईश्वर सत्य नहीं है' इसमें कुल सत्य चीज़'अन्तर्गत है—तात्पर्य यह है कि'कोई भी सत्य वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर हो सकती हो। किन्तु 'जिसको सब लोग मानते हैं सो सत्य है' यहां पर कुल सत्य वस्तु अन्तर्गत नहीं है—क्योंकि बहुत सी 'सत्य वस्तु' ऐसी हैं जिनको लोग जानते भी नहीं हैं'।

संस्कृत न्याय के अनुसार यह व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास हुआ--।

इलिसिट माइनर का उदाहरण

'सब किताबों में अशुद्धियां होती हैं

'सब किताबें आदमी की बनाई होती हैं

'इससे जितनी चीज़ें आदमी की बनाई हैं

वे अशुद्ध हैं'

यहां पर सिद्धान्त में 'मनुष्य की बनाई' कुल चीज़ें अन्तर्गत हैं। पर पहिले वाक्यों में ऐसी कुल चीज़ें अन्तर्गत नहीं हैं। संस्कृत न्याय में यह 'असिद्ध' हेत्वाभास हुआ। इसी तरह जितनी 'फलेसी' (Fallacies) ग्रीकन्याय में मानी गई है वे ऊपर कहे हुए हेत्वाभासों में अन्तर्गत है।

एक चीज़ को देखकर दूसरी चीज़ का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहा है। इसमें कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष को भी एक प्रकार का अनुमान बतलाया है। जैसे गौतम सूत्र २।१।३० में कहा है कि जैसे धुआं देख कर आग के ज्ञान का अनुमान होता है वैसे ही जब हमको किसी पेड़ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब समूचे पेड़ के देखने के पहिले हमको पेड़ के हिस्सों का ज्ञान होता है-अर्थात् पेड़ की जड़, उसकी शाखाओं आदि को देख कर फिर समग्र पेड़ का ज्ञान होता है। इस लिये यह ज्ञान भी अनुमान ही हुआ।

इसका उत्तर ३१ सूत्र में कहा है कि यदि यह मान भी लिया जाय तो भी पेड़ के हिस्सों का जो ज्ञान होता है वह अनुमान नहीं हो सकता। वही प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। कुछ ऐसा नियम तो है ही नहीं कि समूची चीज़ के ज्ञान ही को प्रत्यक्ष कहे। जितनी, जिस काल की, जिस तरह की, चीज़ों का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो वे सब प्रत्यक्ष ही हैं।

उपमान–तीसरा प्रमाण।

"प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" ऐसा लक्षण उपमान का गौतम सूत्र में किया है। किसी जानी हुई चीज़ के सादृश्य से दूसरी चीज़ का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है उसको उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे घर में देखी हुई गाय के सादृश्य से

किसी दूसरे जानवर का ज्ञान होता है। जंगल में जाने वाले से हमने सुना है कि गाय के सदृश जो जानवर होता है उसको 'गवय' कहते हैं। फिर जंगल में जाकर हमने एक जानवर देखा और यह भी देखा कि यह जानवर गाय के सदृश है। इस पर हमको उस आदमी के वाक्य का स्मरण हुआ कि 'जैसी गाय है वैसा ही गवय होता है, तब हम जान लेते हैं कि यही जानवर गवय है। यह ज्ञान जिससे होता है उसको 'उपमान प्रमाण'-'उपमिति ज्ञान का करण' कहते हैं।

उपमिति ज्ञान का स्वरूप क्या है? नैयायिकों का मत है कि 'जानवर का नाम ऐसा है' 'इसी जानवर का नाम गवय है'-यही उस ज्ञान का रूप है। किसी चीज़ का उसके नाम के साथ सम्बन्ध उपमिति ज्ञान का विषय है। भाष्य में कहा है 'अस्य गवयशब्दः संज्ञा' इतिसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धंप्रतिपद्यते। वार्तिक में भी कहा है। 'समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः'। इसका वर्णन करते हुए भाष्यकार और वार्तिककार ने कहा है--'किसी विश्वासी पुरुष के मुँह से सुना कि जैसी गऊ होती है वैसा ही गवय होता है। फिर जिस जानवर को गऊ के सदृश देखते हैं उस समय पहले की सुनी हुई बात का स्मरण होता है। फिर यह ज्ञान होता है कि इसी जानवर का नाम गवय है।'

कुछ दार्शनिकों का मत है कि इस ज्ञान में प्रत्यक्ष और शब्द ज्ञान को छोड़ कर और कोई तीसरा ज्ञान नहीं है जिसको हम उपमान कहें। 'गऊ के सदृश गवय होता है,' यह ज्ञान 'शाब्द' या आगम ज्ञान हुआ क्योंकि यह विश्वासपात्र आदमी के मुंह से सुने हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है। फिर 'यह जानवर जिसको हम देखते हैं वह गाय के सदृश है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष ही हुआ। क्योंकि इस जानवर को देखने ही से ऐसा ज्ञान होता है और 'गाय के सदृश यह है' सो भी आंख ही से देखा जाता है। इन दोनों ज्ञानों को छोड़ कर और कुछ इस ज्ञान में नहीं है। इससे प्रत्यक्ष और शाब्द ज्ञान को छोड़ कर उपमान में और कुछ नया ज्ञान नहीं है।

इसका उत्तर वार्तिककार यह देते हैं कि इतनी दूर तक जो आपने कहा सो ठीक है। येही दो ज्ञान होते हैं। परंतु इनके अन-

न्तर एक तीसरा ज्ञान यह होता है कि 'इसी जानवर का नाम गवय है'। यह ज्ञान न तो प्रत्यक्ष ही है न अनुमान और न शाब्द। और इसी ज्ञान को उपमान ज्ञान कहा है।

ऊपर की शंका बौद्धों की है। वैशेषिक भी उपमान प्रमाण को अलग नहीं स्वीकार करते। इनके मत से 'उपमान' एक प्रकार का शाब्दज्ञान है (प्रशस्तपादभाष्य पृ० २२०)। कई दार्शनिकों ने उपमान को अनुमान ही बतलाया है। गौतम ने २।१।४४-४९ में इसका समाधान किया है। ४८ सूत्र में शंका की गई है कि जैसे देखे हुए धुएं से बिना देखी हुई आग का अनुमान होता है, वैसेही देखी हुई गाय से बिना देखे गवय का ज्ञान भी अनुमान ही होगा। इस का उत्तर ४५-४६ सूत्र में दिया गया है कि गवय का ज्ञान उपमिति ज्ञान नहीं है। 'इसी जानवर का नाम गवय है' यह ज्ञान उपमिति ज्ञान है और यह ज्ञान किसी तरह अनुमान नहीं कहा जा सकता। नवीन ग्रन्थकारों ने उपमान को इस तरह अनुमान में अन्तर्गत किया है कि जब हमको 'इसी जानवर का नाम गवय है' ऐसा ज्ञान होता है तो ऐसा अनुमान होता है कि 'इसी जानवर का नाम गवय है क्योंकि यह गाय के सदृश है-जो जो जानवर गाय के सदृश होते हैं उनका नाम गवय होता है'। इसका समाधान यह है कि 'जो जो जानवर गाय के सदृश हैं वे सब गवय हैं' यह बात मन में नहीं आती। खाली इतनी ही बात मनमें आती है कि 'हमने अच्छे आदमी के मुंह से सुना था कि गवय जानवर गाय के सदृश होता है'।

एक और शंका उपमान के विरुद्ध बहुत प्राचीन समय से यह भी की जाती है-" दो चीज़ के सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा कहा गया है। परंतु सादृश्य तीन तरह का होता है (१) एक दम अत्यन्त सादृश्य, जैसे दो गऊ के बीच का सादृश्य (२) कई अंश में सादृश्य, जैसे गाय और भैंस का सादृश्य और (३) किसी एक अंश में सादृश्य, जैसे पर्वत और कंकड़ में। अब इन में से किसी तरह के सादृश्य के ज्ञान से कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। 'जैसी गाय है वैसी गाय होती है' इस ज्ञान से किसी प्रकार का कुछ भी और ज्ञान नहीं हो सकता। 'फिर जैसी गाय है

वैसी ही भैंस है' इससे भी किसी तरह का ज्ञान नहीं हो सकता। और 'जैसा पर्वत है वैसा कंकड़ है' इससे भी किसी तरह का ज्ञान नहीं होता। फिर सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है, यह कहना बिलकुल अनर्गल है"। यह शंका गौतम सूत्र २।१।४२ में उठाई गई है और ४३ सूत्र में इसका समाधान किया गया है।

अत्यन्त सादृश्य, कई अंश के सादृश्य वा एक ही अंश के सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है, ऐसा उपमान के लक्षण में नहीं कहा है। जो सादृश्य प्रसिद्ध है, अच्छी तरह जाना हुआ है, उसी सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है। कितना ही अत्यन्त सादृश्य क्यों न हो जब तक वह अच्छी तरह जाना न गया हो तब तक वह उपमिति ज्ञान को नहीं पैदा कर सकता। और जो सादृश्य अच्छी तरह जाना गया है वह अत्यन्त हो या कई अंशों में हो या किसी एक ही अंश में क्यों न हो, उस सादृश्य का ज्ञान अवश्य और ज्ञानों को उत्पन्न कर सकता है। किस तरह के सादृश्य को मैं जानता हूं सो प्रकरण से जाना जाता है। शंका में जो सादृश्य बतलाए गए हैं वे भी अवसर अवसर पर अवश्य दूसरे ज्ञानों को उत्पन्न करते हैं। जैसे 'जैसी यह गाय है वैसी यही गाय है' यह जो अत्यन्त सादृश्य है उसके जानने से हमें यह ज्ञान होता है कि इस गाय के ऐसी गाय दूसरी नहीं है। जैसे 'रामरावणयोर्युद्धम् रामरावणयोरिव'। फिर 'जैसा भैंसा होता है वैसा ही यह बैल है' यह जो कई अंश का सादृश्य है उसके ज्ञान से 'यह बैल बड़ा बलवान है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। 'जैसा पर्वत होता है वैसा कंकड़' इस एक अंश के सादृश्य के जानने से हम यह जानते हैं कि जैसे पर्वत सत् पदार्थ है वैसा कंकड़ भी है। इससे प्रसिद्ध जो सादृश्य उसके ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान उपमिति ज्ञान है' यह जो उपमान का लक्षण है सो ठीक है। इसमें कुछ शंका नहीं है।

उपमिति ज्ञान के उत्पन्न होने के पहिले दो ज्ञान आवश्यक होते हैं-'जैसी गाय है वैसा ही गवय होता है' यह एक, और दूसरा 'यह जानवर जिसे मैं देखता हूं गाय के सदृश है'।

उपमिति ज्ञान के करण-साक्षात् कारण-को उपमान कहते हैं। तो

अब यह सन्देह उठता है कि इन दोनों ज्ञानों में से कौन सा ज्ञान उपमिति ज्ञान का साक्षात् कारण है और कौन सा केवल सहकारी है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि 'यह जानवर गाय के सदृश है' यही ज्ञान उपमिति ज्ञान का मुख्य-साक्षात्-कारण है और 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है' इस ज्ञान का स्मरण सहकारी है। कुछ लोग कहते हैं (तर्कसंग्रह के 'नोट' में पृ० ३३३) कि प्राचीन नैयायिकों के मत से 'जैसी गाय वैसा ही गवय' इसका स्मरण ही उपमिति ज्ञान का करण है और नवीनों के मत से इसका एक दम उलटा है। पर ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है, इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। भाष्य में कहा है-'यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते...गवा समान धर्ममर्थमुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञा इतिसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते पृ० २१)। वार्तिक में (पृ० ६०) 'आगमाहित-संस्कार-स्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानम् उपमानम्। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने कहा है-'पिंडस्यहि गवय शब्द वाच्यतां पुरुषोऽति देशवाक्य स्मरणसहकारिणः प्रत्यक्षात् गवयगतात् गोसादृश्यात् प्रजानन् तेन प्रज्ञाप्यते इति प्रमाणव्यापारः (पृ० १३२)। इन तीनों वाक्यों से स्पष्ट है कि सादृश्य का ज्ञान ही साक्षात् कारण है और वाक्य का स्मरण सहकारी है। फिर किस प्राचीन नैयायिक के मत से वाक्यस्मरण साक्षात् करण और सादृश्य ज्ञान सहकारी माना गया है-सो नहीं समझ पड़ता।

शब्द—चौथा प्रमाण।

गौतम ने कहा है (सूत्र १। १। ७) 'आप्तोपदेशः शब्दः'। अर्थात् आप्त पुरुष के उपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहते है। जितनी चीजें हैं-इन्द्रियों से सम्बद्ध या इन्द्रियों से परोक्ष—उनका ज्ञान जब किसी विश्वस्त पुरुष के वाक्यों से होता है तो इन वाक्यों को 'शब्द' वा 'आगम' कहते हैं। और ऐसे ज्ञान को 'शाब्द ज्ञान' कहते हैं।

'आप्त' पुरुष वह है जिसने धर्म की और सब पदार्थों की असलीयत को अच्छी तरह से जान लिया हो। जितनी चीजें है-हित, अहित, रखने के लायक-फेंकने के लायक-उन सबों का असल रूप जिसने

निस्सन्देह रूप से जान लिया हो, जो सब जीवों पर दया रखता हो और असल बात के कहने की इच्छा रखता हो वही 'आप्त' पुरुष है। इस लक्षण से यह साफ़ है कि 'आप्त' केवल वेद ही या ऋषि हैं या आर्यदेश वासी ही नहीं कहलाते परंतु ऋषि हो-या आर्यावर्त निवासी हो या देशान्तर वासी हो जो कोई सब चीजों को अच्छी तरह जानता हो वही आप्त है। यह बात भाष्य में साफ़ कह दी गई है। किसी आदमी को हम मनमाने 'आप्त' नहीं कह सकते। जिसके विषय में यह पाया जाय कि यह बराबर असली बातों को कहता है वही आदमी 'आप्त' माना जा सकता है।

भाष्य में इतना और भी कहा है कि ऐसे आदमी के भी सभी वाक्य 'आप्तोप देश' नहीं कहे जाते। किन्तु जितने वाक्यों को वह इस इच्छा से कहे कि लोगों को इन चीजों की असलीयत समझ में आ जाय वेही वाक्य 'आप्तोपदेश' कहे जायंगे। वेद का भी कर्ता नैयायिक ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर सब चीज जानता है-उसमें वैसाही कहने की इच्छा का भी अनुमान किया जाता है-इस से वेद भी आप्त का उपदेश है। ईश्वर सब से बढ़ कर आप्त है क्योंकि झूठ कहने के कारण सामान्य मनुष्यों में जितने होते हैं वे ईश्वर में कभी नहीं हो सकते। इससे ईश्वर जो कुछ कहेगा सब सच ही कहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'आप्तोपदेश' यदि शब्द का लक्षण हुआ तो यह अनुमान या प्रत्यक्ष ही में अन्तर्गत होगा-ऐसी शंका वार्तिक (पृ० ६३) और तात्पर्य (पृ. १६८) में उठाई गई है। "आप्तोपदेश," से क्या तात्पर्य्य है? यदि इसका मतलब यह है कि 'ऐसे लोगों का उपदेश जिन का वचन मिथ्या नहीं है' तो यह बात अनुमान ही से जानी जा सकती है। अर्थात् आप्त पुरुष ऐसा विश्वसनीय है केवल इससे अर्थ का ज्ञान होना असम्भव है। 'यह कहने वाला विश्वसनीय है' केवल इससे वह जिस बात को कहता है उसका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञान केवल किसी प्रकार अनुमान करने से मालूम हो सकता है। अर्थात् अच्छी

तरह जानी हुई बात को जो कहने की इच्छा रखता है और इस इच्छा के अनुसार उसी तरह उस बात को कहता है यह बात जब हम जानते है—तब किसी ऐसे आदमी की बात को सुन कर हम ऐसा अनुमान करते हैं। 'यह आदमी बोलता है इससे इस को बात कहने की इच्छा है—इस कहने की इच्छा से कही हुई बात का ज्ञान इसको है'। फिर इस ज्ञान से जिस बात का या जिस चीज़ का वह ज्ञान है उसका अनुमान करते है। इस तरह कही हुई चीज अनुमान से जानी गई, यह मानना पड़ेगा। इस आशंका से बचने के अभिप्राय से यदि यह कहा जाय कि 'आप्तोपदेश' अर्थात् 'शब्द प्रमाण वह है जिस शब्द से किसी चीज को जान कर फिर उस चीज को वैसी ही पावे,' तो इसमें यह दोष पड़ेगा कि 'यहचीज ठीक वैसी ही है जैसी इन शब्दों से कही गई'—यह ज्ञान प्रत्यक्ष ही होगा।

इस शंका के उत्तर में वार्तिककार कहते हैं कि 'आप्तोपदेश' शब्द, का तात्पर्य यह नहीं है कि 'शब्द ऐसा होना चाहिए जिसकी सत्यता बोलने वाले की विश्वसनीयता से सिद्ध हो, (जिस हालत में यह शब्द ज्ञान अनुमान हो जाता है)—न उस से यही तात्पर्य है कि 'शब्द वह है जिसमें कही हुई चीज़ ठीक वैसी ही पाई जाय' (जिस हालत में यह प्रत्यक्ष हो जाता है)। 'उपदेश' पद का अर्थ यहां है 'शब्द'—जिससे कोई चीज़ कही जाय, बतलाई जाय-वह चीज़ चाहे दृष्ट हो या अदृष्ट। विश्वस्त पुरुष के वाक्य को सुन कर सुनने वाले के मन में ऐसा ज्ञान होता है 'इसने जो शब्द कहे हैं उनसे उन शब्दों के अर्थ के स्मरण के अनन्तर मुझे उन अर्थों का ज्ञान हो रहा है' यही ज्ञान 'शब्द ज्ञान' कहलाता है और जिन शब्दों से यह ज्ञान होता है उसको 'शब्द प्रमाण', 'आगम' इत्यादि पदों से कहते हैं।

'उपदेश' वह है जिससे अथवा जिसके द्वारा कोई बात कही जाय। 'ऐसा करो' ऐसा जो वाक्य कहे उसी को मामूली व्यवहार में 'उपदेश' कहते हैं। पर यहां पर ऐसा नहीं है। ऐसा हो तो वेद में या लौकिक व्यवहार में जिन वाक्यों में चीजों के वर्णन

पाए जाते हैं वे 'आप्तोपदेश' नहीं कहला सकते। इससे 'वाक्य का ज्ञान' और वाक्यार्थ का ज्ञान' दोनों को 'उपदेश' कह सकते हैं। आप्त पुरुष के कहे हुए वाक्य का ज्ञान अथवा उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान-शब्द प्रमाण-शब्दज्ञान का कारण है। जब वाक्यज्ञान को प्रमाण-कारण मानेंगे तो अर्थज्ञान उसका फल होगा। और जब अर्थज्ञान प्रमाण होगा तो बतलाई हुई चीज़ का ग्रहण या त्याग ज्ञान का फल होगा।

आप्तोपदेश दो प्रकार का होता है। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ (गौतम सूत्र २।१।)। प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को जो बतलावे उसे 'दृष्टार्थ' कहते हैं और प्रत्यक्ष जानने के योग्य जो चीज़ नहीं है' जिनका ज्ञान अनुमान से हो सकता है, ऐसी चीज़ों को जो वाक्य बतलावे उसे 'अदृष्टार्थ' कहते हैं। जैसे स्वर्ग याग अपूर्व इत्यादि वस्तु हैं इस बात को हम खाली अनुमान से जान सकते हैं। ये चीजें ज़रूर होंगी क्योंकि ये वेद में कही पाई जाती हैं और वेद आप्त ईश्वर का बनाया है। दृष्टार्थ मामूली आदमियों का भी हो सकता है, पर अदृष्टार्थ वाक्य यथार्थ केवल ईश्वर काही।

ऐसा अर्थ 'दृष्टार्थ 'अदृष्टार्थ' का भाष्यकार ने किया है। वार्तिक में कहा है कि दृष्टार्थ शब्द वह है जिसका वक्ता कही हुई चीज़ को देख कर दूसरों को अल्पज्ञ जानकर उनके उपकारार्थ कहता है। और 'अदृष्टार्थ' शब्द वह है जिसका वक्ता कही हुई चीज़ को देख कर नहीं किन्तु अनुमान या और प्रमाणों से जान कर कहता है। इस व्याख्या से मामूली आदमी के भी शब्द 'दृष्टार्थ' 'अदृष्टार्थ' दोनों तरह के हो सकते हैं।

<u>आप्त पुरुष का उपदेश</u>—विश्वसनीय पुरुष के कहे हुए वाक्य को 'शब्द प्रमाण' कहा है। 'आप्त' क्या है सो ऊपर कह आए हैं। अब 'वाक्य' क्या है सो विचार करते हैं। कई पदों के मिलने से वाक्य बनता है। पर कोई किसी तरह के पदों के इकट्ठा होने ही से वाक्य नहीं होता।

वाक्य का वर्णन वार्तिक (पृ० १७) में है-'जहां पर कई पद हैं-और वे ऐसे सम्बद्ध हैं कि जब उनका उच्चारण होता है तब अन्त के पद का अर्थ मालूम होने पर उसके साथ ही

पहले कहे हुए पदों के अर्थ का स्मरण होता है-फिर सब पदों के अर्थ का स्मरण एक साथ होकर सभों का मिला हुआ एक अर्थ भासित होता है—ऐसा ज्ञान जिन पदों से होता है उन्हीं पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। जैसे 'किताब पढ़ो' इस में जब 'पढ़ो' पद का अर्थ मालूम हुआ तब 'किताब' पद के अर्थ का भी स्मरण होता है। फिर 'किताब' और 'पढ़ो' इन दोनो पदों के अर्थ का साथ साथ मिला हुआ ऐसा एक अर्थ भासित होता है कि 'किताब का पढ़ना मुझसे कहा जाता है'—यही 'किताब' पद के अर्थ का 'पढ़ो' पद के अर्थ से विशिष्ट—मिला हुआ—ज्ञान हुआ। इस विशिष्ट ज्ञान का करण 'किताब'—'पढ़ो' इन दोनों पद का समूह है—इससे यह वाक्य हुआ।

जितने पदों का समूह वाक्य कहलाता है वे पद ऐसे होने चाहिये जिससे उन में परस्पर सम्बन्ध रहे। 'हाथी, घोड़ा, बैल, पत्थर, कंकड़' ये पद भी जब साथ उच्चरित होंगे तो सम्भव है कि 'कंकड़' पद के अर्थ के ज्ञान के बाद 'हाथी' इत्यादि पदों के अर्थ का भी स्मरण हो। 'हाथी' पद के अर्थ के साथ मिला हुआ 'कंकड़' पद के अर्थ का ज्ञान होगा इसमें कोई भी कारण नहीं है। यदि 'हाथी' और 'कंकड़' पद के अर्थों में कोई सम्बन्ध ऐसा होता जिसके द्वारा एक के ज्ञान से दूसरे का स्मरण अवश्य होता तभी दोनों का मिला हुआ ज्ञान हो सकता।

जो सम्बन्ध पदों में आवश्यक हैं वे तीन प्रकार के माने गए हैं—आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि (तात्पर्यटीका पृ० ३८)। इसी से नवीन नैयायिकों ने वाक्य का वर्णन यों किया है—'परस्पर आकांक्षा योग्यता सन्निधि इन तीन सम्बन्धों को रखते हुए पदों के समूह को वाक्य कहते हैं' (तर्कभाषा पृ० ६-६-७०)। जब तक ये तीनों सम्बन्ध नहीं हों तब तक किसी पदसमूह से किसी एक बात का ज्ञान नहीं हो सकता। 'किताब पढ़ो' यहां इन दोनों पदों में ये तीनों सम्बन्ध हैं। इसी से 'किताब पढ़ने के लिये मुझसे कहा जाता है', इस एक बात का ज्ञान इन दोनों पदों के सुनने से होता है। 'हाथी, घोड़ा, कंकड़, पत्थर' इन पदों में ये तीनों सम्बन्ध नहीं हैं। इससे इन पदों से किसी एक बात का ज्ञान नहीं होता।

जब दो पदों में ऐसा सम्बन्ध हो कि एक के बिना दूसरे में कोई कमी पाई जाय—जिससे वह किसी सम्बद्ध बात को न कह सके—तो इसी सम्बन्ध का नाम 'आकांक्षा' है। जैसे 'किताब पढ़ो' यहां इन पदों का ऐसा सम्बन्ध है। क्योंकि जब तक 'पढ़ो' पद नहीं कहा जाता तब तक यह नहीं मालूम हो सकता कि किताब को क्या करें—'किताब' पद से किसी सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह जब तक 'किताब' पद न कहें तब तक 'पढ़ो' पद से किसी सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता—क्या पढ़ा जाय, यह नहीं मालूम होता। इससे इन दोनों पदों में कोई ऐसी कमी है जो कि एक की दूसरे ही से पूरी हो सकती है। 'किताब' का क्या करना है, सो किसी क्रिया पद ही से मालूम हो सकता है। इसी तरह क्या पढ़ा जाय सो किसी कर्मकारक पद से ही मालूम हो सकता है। इससे इन दोनों में परस्पर 'आकांक्षा' है। 'हाथी-घोड़ा-कंकड़-पत्थर' इसमें 'हाथी' और 'घोड़ा' इन पदों के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है—हाथी को क्या करना है सो 'घोड़ा' पद से नहीं मालूम हो सकता। इसी तरह और पदों में भी समझना चाहिए। इसी से इन पदों मे 'आकांक्षा' नहीं है।

दूसरा सम्बन्ध है 'योग्यता'। दोनों पद ऐसे होने चाहिये जिससे एक दूसरे के अर्थ में किसी तरह का विरोध न हो। अर्थात् दोनों के अर्थ जब मिलाए जायं तो कोई असम्भव बात नहीं कहा जाय। दोनों मिलकर ऐसी बात कहें जो कि हो सकती हो। जैसे 'पानी ठंढा है' यहां पर पानी पद का ऐसा सम्बन्ध 'ठंढा' पद से है। पर 'आग शीतल है' यहां पर 'आग' पद का अर्थ जब 'शीतल' पद के अर्थ से मिलाया जाता है तो 'आग का शीतल होना' ऐसा मिला हुआ अर्थ कहा जाता है—पर हम जानते हैं कि ऐसा होना सम्भव नहीं है। इससे 'आग' और 'शीतल' इन दोनों पदों में 'योग्यता' सम्बन्ध नहीं हो सकता है। नैयायिकों के मत से 'आग शीतल है' यह वाक्य असम्भव अर्थ को कहता है ऐसा नहीं—इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता है। पर यहां यह विचारने की बात है कि जब तक 'आग शीतल है' इस वाक्य से कोई अर्थ नहीं मालूम होगा तब तक इन पदों से विशिष्ट

अर्थ जो कहा गया सो असम्भव है ऐसा कैसे जान पड़ेगा ?

तीसरा सम्बन्ध है 'सन्निधि'। जिन दो पदों से कोई एक बात कही जाय उनका उच्चारण साथ साथ होना चाहिये। ऐसा नहीं कि 'किताब' पद का उच्चारण सवेरे किया जाय और 'पढ़ो' पद का उच्चारण शाम को। ऐसे अलग अलग उच्चारण करने से दोनों के अर्थ का साथ मिला हुआ स्मरण नहीं हो सकता और इसी से मिले हुए अर्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। यदि दोनों पद लगातार कहे जांय तो दोनों के अर्थों का मिला हुआ ज्ञान यह होता है कि 'किताब का पढ़ना' कहा जाता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। नैयायिकों के मत से समस्त वेद ईश्वर का रचा हुआ है और ईश्वर सदा 'आप्त', विश्वासपात्र, सब चीजों की असलीयत जानने वाला है। झूठ कहने की इच्छा उसको कभी क्यों होगी। इससे उसके कहे हुए जितने वाक्य हैं सभी सत्य और विश्वसनीय हैं। लौकिक वाक्यों में ऐसा नहीं है। वे तभी सत्य माने जा सकेंगे जब उनका वक्ता प्रामाणिक समझा जायगा। जब तक किसी आदमी को हम नहीं जानते कि यह सच्चा है या झूठा–जिस बात को यह कह रहा है उसे जान कर कहता है या बिना जाने ही कुछ बक रहा है—तब तक उसके वाक्य में मेरा विश्वास नहीं हो सकता।

वेदवाक्य सर्वथा विश्वसनीय है, ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। गौतमसूत्र २।१।५७ में वेद के प्रामाण्य के विषय में शंका की गई है। वेद प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें कई सरासर झूठी बातें पाई जाती हैं, कई परस्पर विरुद्ध पाई जाती हैं और कई जगह बातें दोबारा कही गई हैं। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' 'जिसको पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि करे' अर्थात् पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्र होता है ऐसा वाक्य वेद में पाया जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि कई आदमी पुत्रेष्टि करते हैं पर उनको पुत्र नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि यह वेदवाक्य झूठ है। इस वाक्य को झूठ पाकर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि जैसे पुत्रेष्टि से पुत्र नहीं होता वैसे ही अग्निहोत्र से स्वर्ग भी नहीं होगा। इससे जितने यज्ञ वर्णन करने वाले वाक्य हैं सब झूठ ठहरे।

फिर अग्निहोत्र के प्रकरण में वाक्य है 'उदिते जुहोति' 'सूर्य के उदय होने पर हवन करना', कुछ आगे चल कर कहा है 'अनुदिते जुहोति' 'जब तक सूर्य का उदय न हुआ हो तभी हवन करना'। ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं। इससे दोनों ठीक नहीं हो सकते। दोनों में कौन सा ठीक है सो नहीं कहा जा सकता। इससे दोनों के ठीक होने में सन्देह रहेगा। फिर 'त्रिः प्रथमामाह' 'तीन दफे पहिला मंत्र कहना' ऐसा कहा है। फिर कहा है— 'त्रिरुत्तमामाह' 'अन्तिम मंत्र को तीन बार कहना'। इस तरह फिर फिर एकही मंत्र को कहना, बार बार एकही वाक्य को व्यर्थ बकना, पागलों का काम है! इससे ऐसे वाक्यों के सत्य होने में वैसाही सन्देह होता जैसे पागल के वाक्य में।

इन शंकाओं का समाधान सूत्र २।१।५८ में किया गया है। पुत्रेष्टि याग करने से पुत्र नहीं उत्पन्न होता है इससे यह नहीं सिद्ध होता कि पुत्रेष्टि करने से पुत्र होता है' यह वेदवाक्य झूठा है। किसी काम से ठीक ठीक फल होगा इसमें काम करने वाला निर्दोष होना चाहिये। आदि से अन्त तक काम अच्छी तरह होना चाहिये। फिर काम में जितनी चीजें लगाई जाती हैं वे निर्दोष होनी चाहिये। ये सब सामान निर्दोष जुट जायंगे सो बड़ा कठिन है। कुछ न कुछ कमी किसी बात में, किसी अंग में रहही जाती है। इसी कारण से काम सफल नहीं होता। जैसे पुत्रेष्टि याग में और कई छोटे छोटे याग किये जाते हैं, जैसे समिद् याग इत्यादि, इनका अनुष्ठान यदि न किया गया तो इष्टि में ही न्यूनता हुई। इसी तरह याग करने वाला यदि मूर्ख हो या दुराचारी हो तो उसका याग सफल कैसे होगा। या याग करने वाले की पत्नी यदि वन्ध्या हो तो पुत्र कहां से होगा। यहां यागकर्ता की न्यूनता हुई। फिर याग के साधन हैं द्रव्य, मंत्र इत्यादि। यदि घृतादि द्रव्य में किसी तरह की अपवित्रता आजाय, जैसी शुद्धि उनकी वेद में बतलाई गई है वैसी न हो सके, या मंत्र के उच्चारण में कुछ हानि होजाय, स्वर में, मात्राओं में, अक्षर में, किसी तरह कि त्रुटि होजाय, तो ये त्रुटियां कर्म के साधन में हुईं। जहां ये सब दोष एक भी न पाए जाएं वहां यदि पुत्रेष्टि से पुत्र न हो तो वेद पर कुछ आक्षेप किया भी

आ सकता है। परन्तु इन यागों के प्रसंग में इतने नियम बतलाए गए हैं कि किसी याग का सर्वांश निर्दोष होना कठिन है। इससे वेद-वाक्य मिथ्या हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

फिर 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' इन वाक्यों में जो परस्पर विरोध बतलाया गया है सो विचार करने से इन दोनों वाक्यों में किसी तरह का विरोध नहीं पाया जाता है। यदि 'उदिते जुहोति' इस वाक्य का ऐसा अर्थ होता कि उदय होते ही हवन करना, उदय होने के पहिले नहीं तो दोनों वाक्यों में विरोध अवश्य होता। वेद में कहा है 'अग्निहोत्र होम करना' फिर इसके सम्बन्ध में कहा है–' उदय होने पर हवन करना ' ' उदय होने के पहिले हवन करना '—इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र का होम जो किया जाय वह या तो प्रति दिन उदय से पहिले ही किया जाय या प्रति-दिन उदय के बाद ही किया जाय-एक दिन पहिले दूसरे दिन पीछे ऐसा नहीं '। ऐसा ही तात्पर्य इन वाक्यों का है, सो इस से मालूम होता है कि आगे चल कर वेद में कहा है कि ' एक काल-उदय से पहिले या उदय के बाद-में हवन आरम्भ करके फिर यदि उस काल का भेद किया जाय तो वह होम कुत्ते को प्राप्त होता है '। इस से यह स्पष्ट है कि कई काल होम के लिये कहे हैं–उन में से किसी एक का ग्रहण करके उसी पर जन्म भर स्थिर रहना चाहिए। (गौ० सू० २।१।५९)।

तीसरा दोष ' पुनरुक्तता ' बतलाया गया है। ' पहिले मंत्र को तीन बार कहना ' ' अन्तिम मंत्र को तीन बार कहना '—ये वाक्य सामिधेनी मंत्र के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। ग्यारह मंत्र मिल कर सामिधेनी मंत्र कहलाते हैं। इन के प्रसंग में ऐसा कहा है कि 'पंच-दशसामिधेनी मंत्र से शत्रु का नाश करना'। ये पन्द्रह मंत्र सामिधेनी में कहां से आवेंगे, यदि कुछ मंत्र दो बार न कहे जांय ? इसी से कहा है कि–आदि और अन्त के मंत्रों को तीन तीन बार कहना–जिस से चार मंत्र बढ़ जाते हैं और ग्यारह की जगह पन्द्रह मंत्र हो जाते हैं। इस तरह ' पंचदश सामिधेनी ' पूरी हो जाती है।

इन सब शंकाओं का उत्तर देकर ६१ सूत्र में सिद्धान्त किया

है कि वेदवाक्य उसी तरह प्रमाण है जैसे संसार में मनुष्यों के वाक्य। अर्थात् जैसे मामूली मनुष्यों में से जो आदमी विश्वास पात्र है उसके वाक्य प्रमाण माने जाते हैं उसी तरह वेदवाक्य भी प्रमाण माने जा सकते हैं क्योंकि इनका कहने वाला ईश्वर है जो परम विश्वासपात्र है।

कई आधुनिक ग्रन्थकारों ने स्मृति-इतिहास-पुराण-इत्यादि को भी 'वैदिक वाक्य' में ही अन्तर्गत कर लिया है। किन्तु प्राचीन नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है। ६१ सूत्र के भाष्य में कहा है–' वेद के वाक्य वैसे ही प्रमाणिक हैं जैसे लोक में-अर्थात् जैसे लौकिक वाक्य। इसकी व्याख्या में वार्तिक में कहा है—' वेदवाक्य प्रमाण अवश्य हैं-क्योंकि इनका अर्थ स्पष्ट मालूम पड़ता है-जैसे मनु आदि के वाक्य में। इससे यह स्पष्ट होता है कि वार्तिककार ने मन्वादि स्मृतियों को लौकिक वाक्य ही माना है। प्रशस्तपाद ने भी (पृ.२१३) स्मृति' को 'श्रुति' से अलग माना है।

वेदवाक्य को ब्राह्मण वाक्य भी कहते हैं और सूत्र २।१।६२ में इनके तीन भेद बतलाये हैं। विधि वाक्य, अर्थवाद वाक्य, अनुवाद वाक्य 'ऐसा करो' अथवा 'ऐसा मत करो' यह जिस वाक्य में कहा जाय उसको 'विधिवाक्य' कहते हैं (सू० ६३) जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'अग्निहोत्र याग करो' 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' 'उदय होते हुये सूर्य की ओर मत देखो'।

अर्थवाद वाक्य चार प्रकार के होते हैं। (१) जिस काम का करना विधिवाक्य से कहा गया है उस काम की प्रशंसा जिस वाक्य में पाई जाती है उसको 'स्तुति'-अर्थवाद कहते हैं। 'सर्वजित् याग करना' ऐसा विधि वाक्य है। इस सर्वजित् की प्रशंसा में कहा है कि इस याग के करने से सब वस्तु लब्ध होती हैं और सब जीते जाते हैं। (२) जिस काम का न करना विधिवाक्य में कहा गया है उस काम की निन्दा जिस वाक्य में हो उसको 'निन्दा-अर्थ वाद' कहते हैं। 'ज्योतिष्टोम याग के किये बिना दूसरा याग नहीं करना' ऐसा विधिवाक्य में कहा है। फिर कहा है 'बिना ज्योतिष्टोम किये जो कोई दूसरा याग करे तो वह गड़हे में गिरे'। (३) जिस काम का करना विधिवाक्य में कहा है उससे दूसरी

तरह उस काम को यदि और लोग करते हों तो यह जिस वाक्य में बतलाया जाय—'ऐसा इस काम को करना—फलाने इस काम को दूसरी तरह करते हैं सो ठीक नहीं है,'- इस वाक्य को 'परकृति-अर्थवाद' कहते हैं। जैसे 'वपा होम करके फिर पृषदाज्य का होम करना' ऐसा विधिवाक्य में कहा है। इसी के सम्बन्ध में कहा है—'चरकाध्वर्यु लोग पहिले पृषदाज्य ही का होम करते हैं'। इससे विधिवाक्य में बतलाए हुए काम की तारीफ सूचित होती है। (४) जिस काम का करना विधिवाक्य में कहा है—उसके समर्थन में अकसर ऐसा कहा जाता है कि 'पुराने ज़माने में लोग ऐसा ही करते थे' ऐसा जिस वाक्य में कहा जाय उसको 'पुराकल्प—अर्थवाद' कहते हैं। इससे भी विधिवाक्य में कहे हुए काम की प्रशंसा सूचित होती है। जैसे 'बहिष्पवमान सामस्तोम का गान करना' इसके समर्थन में कहा है 'पुराने जमाने में ब्राह्मणों ने इसी को गाया' इत्यादि। इससे यह साफ़ मालूम होता है कि विधिवाक्य से सम्बद्ध होने ही से अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य है—जैसा मीमांसकों ने माना है।

विधिवाक्य से जो बात कही गई है वही बात फिर भी किसी मतलब से कही जाती है—इन्हीं वाक्यों को 'अनुवाद वाक्य' कहते हैं। एक ही बात का फिर कहना कई मतलबों से हो सकता है' (१) उसी बात की तारीफ़ करने के लिये—जैसे 'अश्वमेध याग करना' ऐसा कहने के बाद फिर कहा है 'जो अश्वमेध यज्ञ करता है सो कुल पापों से मुक्त होता है'। यहां 'जो अश्वमेध याग करता है' यह वाक्य 'अश्वमेध याग करो' इस विधिवाक्य का 'अनुवाद' हुआ। (२) इसी तरह निन्दा करने के मतलब से भी अनुवाद होता है। (३) विधिवाक्य में जिस काम का करना कहा गया है उस काम के करने के लिये जितनी बातों का जानना आवश्यक है वे सब सर्वत्र उसी वाक्य से नहीं ज्ञात होतीं—इनके बतलाने के लिये दूसरे वाक्यों की अपेक्षा होती है—ऐसी हालत में इन दूसरे वाक्यों का पहिले वाक्य से जो सम्बन्ध है इस को सूचित करने के लिये इन दूसरे वाक्यों में पहिले वाक्य में कहे हुए का फिर से कहना आवश्यक होता है—यही

फिर से कहना 'अनुवाद' कहलाता है। जैसे 'अष्टाकपाल पुरोडाश को आग्नेय बनाना' इत्यादि वाक्यों में आग्नेय आदि छ याग पूर्णमासी और अमावास्या के दिन करने को कहे गये हैं। पर यह नहीं कहा गया है कि इन यागों के करने से क्या लाभ होता है। इसको बतलाने के लिये दूसरा वाक्य है—जो कोई पौर्णमासी याग करता है-जो कोई अमावास्या याग करता है-उसको ये ये लाभ होते हैं'। यहां पर 'पौर्णमासी और अमावास्या' याग फिर से कहे गये हैं।

'अनुवाद' और 'पुनरुक्त' में यह भेद है कि जो कोई बात किसी मतलब से दोबारा कही जाय तो वह दोबारा कहना 'अनुवाद' कहलाता है। परंतु यदि व्यर्थ बिना मतलब के दोबारा कही जाय तो वह 'पुनरुक्त' कहलाता है।

येही तीन भेद लौकिक वाक्यों में भी पाये जाते हैं। 'भात पकाओ'-यह विधि वाक्य हुआ। 'अन्न के खाने से बल होता है'—यह भात पकाने की प्रशंसा 'अर्थवाद' है। 'भात पकाओ भात पकाओ' यहां 'जल्दी पकाओ' इस मतलब से दोबारा कहा गया-यह 'अनुवाद' हुआ।

सूत्र २।१।६८ में यह शंका उठाई गई है कि-हम कैसे जान सकते हैं कि वेद का वक्ता ईश्वर विश्वासपात्र है। लौकिक वाक्यों में तो देखते हैं कि "वह आदमी अच्छा पंडित है अतः जो बात वह कह रहा है उसको भली भांति जानता है-इसका स्वभाव हम ऐसा देखते हैं कि इसको लोगों को असल बात बतलाने की इच्छा है"-इत्यादि समझ कर हम विचार कर लेते हैं कि यह आदमी विश्वासपात्र है—इसका वाक्य प्रमाण है। वेदवाक्यों के कहने वालों को तो हमने कभी देखा ही नहीं, फिर वह 'आप्त' है या नहीं यह हम कैसे समझ सकते हैं। इसका समाधान यह किया है कि—लौकिक वाक्यों में भी हमने जिस आदमी के वाक्यों को दो चार दस बार सच पाया उस आदमी को हम 'आप्त' मानने लगते हैं। इसी तरह वेदों में भी आयुर्वेद में कहे हुए उपदेशों के अनुसार जब हम काम करते हैं तो उनका फल जैसा कहा है वैसा ही पाते हैं। अर्थात् हरीतकी के सेवन से मलरोध नहीं रहता इसको बार बार

जांच कर सत्य मानते हैं। इसी तरह आयुर्वेद के वाक्यों को सच पाकर 'इनका कहने वाला सत्य वक्ता है —इसमें आप्त पुरुष के कुल लक्षण पाए जाते हैं' यह हम जान लेते हैं। फिर इस पुरुष की कही हुई कुल बातों पर हमारा विश्वास हो जाता है।

नैयायिकों ने वेद को ईश्वर का बनाया हुआ माना है। और ईश्वर में आप्त के सब लक्षण हैं—वह सब पदार्थों का ज्ञान रखता है-इसको भूतों पर दया है और मनुष्यों के उपकार के लिये ठीक ठीक उपदेश करने की इच्छा है। इससे उनके वाक्य अवश्य प्रमाण होंगे। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते वे वेदों को अपौरुषेय-किसी पुरुष का बनाया नहीं-मानते हैं। इसी से उनके मत में वेद नित्य है। मीमांसकों के मत से वेद ही नहीं-शब्द मात्र-कुल शब्द-उनके अर्थ-सब ही नित्य हैं। इसका प्रतिपादन मीमांसादर्शन के प्रकरण में किया जायगा।

आप्तोपदेश को 'आगम' कहते हैं। इसी से वेद को आगम भी कहा है। ऋषभदेव, बुद्धदेव, प्रभृति के वाक्य भी 'आगम' माने जाते हैं। वाचस्पति मिश्र ने इन आगमों से वेद में अधिक विश्वास योग्यता बतलाई है (तात्पर्य पृ० ३००)। उनका कहना है कि वेद उस ईश्वर का बनाया है जो संसार की रचना करने वाला है। जिसको इतनी बड़ी शक्ति होगी उसी में 'आप्त' के पूरे लक्षण पाये जा सकते हैं। ऋषभदेव, बुद्धदेव बड़े विद्वान् कारुणिक सदुपदेष्टा थे तो सही परन्तु वे संसार के रचयिता न थे। इससे उनके कहे हुए आगम अपने आप प्रमाण नहीं माने जा सकते। सांसारिक मामूली पुरुषों में जब हम कुछ आप्त के लक्षण पा लेते हैं तब उनकी बातों को प्रमाण मानते हैं। इसी तरह ऋषभदेव बुद्धदेव के वाक्यों के प्रसंग जब हम इनमें आप्त के लक्षण पाएंगे तभी इनके वाक्यों को प्रमाण मान सकते हैं। वेद में ऐसा नहीं है। 'वेद में यह बात है' केवल इतना देखने ही से 'यह अवश्य प्रमाण है' ऐसा मानना पड़ता है।

जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में (पृ० २६९) ऐसा नहीं माना है। उनका मत है कि जितने आगम हैं सबका कर्ता ईश्वर ही है। ऋषभ देव बुद्ध देव भी ईश्वर ही के अवतार हैं। भेद इतना ही है कि

वेद में जो उपदेश हैं वे सकल साधारण समस्त संसारभर के आदमियों के उपकारार्थ हैं और जैन बौद्ध आगम में जो उपदेश हैं उन्हें कुछ चुने हुए लोगों के उपकार के हेतु ईश्वर ने रचा। जब जैसे लोगों को जैसे उपदेश की आवश्यकता देख पड़ती है तब ईश्वर उनके हेतु वैसा ही उपदेश करता है। इनके मत से और आगमों के प्रति वेद की अधिकता इतनी ही है की वेद से अधिक मनुष्यों का उपकार होता है और बौद्ध जैन आगमों से कम लोगों का। यदि जयन्तभट्ट आज कल होते तो प्रायः बौद्ध ही आगम को सब से श्रेष्ठ मानते। क्योंकि आजकल संसार में उसी आगम के मानने वालों की संख्या अधिक पाई जाती है।

आप्तोपदेश शब्द है। इस उपदेश से उत्पन्न ज्ञान को 'शब्दज्ञान' कहते हैं। अर्थात् आप्त पुरुष के कहे हुए वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'शब्दज्ञान' होता है। इस ज्ञान का साक्षात् कारण—करण—क्या है? प्राचीन नैयायिकों के मत से वाक्य ही इस ज्ञान का करण है।

वाक्य का अर्थ क्या है इस विषय में बहुत मतभेद पाया जाता है। मीमांसकों के मत से नियोग या प्रेरणा वाक्यार्थ है—अर्थात् 'ऐसा करो' 'ऐसा मत करो' यही बात सब वाक्यों से कही जाती है। जिनमें ऐसा साफ साफ न कहा गया हो वह भी किसी दूसरे उस अर्थ वाले वाक्य से सम्बन्ध रखते हैं। इस मत की व्याख्या मीमांसाप्रकरण में की जायगी। नैयायिकों के मत से कई एक पदों के अर्थ जब एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखते हैं तब यही परस्पर सम्बद्ध पदों के अर्थ वाक्यार्थ कहलाते हैं। जैसे 'कपड़ा लाओ' यहां 'कपड़ा' पद से कहा हुआ कपड़ा, और 'लाओ' शब्द से कहा हुआ लाना—ये दोनों अर्थ—कपड़ा और लाना क्रिया—जब परस्पर सम्बद्ध होते हैं तब यही वाक्य कहलाता है।

वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे होता है? परस्पर सम्बद्ध पदों के अर्थ ही को नैयायिकों ने वाक्यार्थ माना है। पर इसपर यह सन्देह उपस्थित होता है कि-इस वाक्य का ज्ञान पदों से होता है या समस्त वाक्य ही से। न्यायमंजरी

(पृ ३६७) में स्पष्ट लिखा है कि वाक्यार्थ ज्ञान का कारण वाक्य है जैसे पदार्थ ज्ञान का कारण पद है। किन्तु जैसे पद के अर्थ के जानने के समय हम एक एक कर पद के अक्षरों को सुनकर एक एक का स्मरण रखते हुए अन्त का अक्षर सुन कर समस्त पद के अर्थ के ज्ञान को प्राप्त करते हैं इसी तरह वाक्य में भी होता है। जब कोई वाक्य कहा जाता है उसमें कई पद होते हैं। जैसे 'कपड़ा लाओ' यहां दो पद सुने जाते हैं। पहिले 'कपड़ा' पद सुना गया फिर इसका क्या अर्थ है सो स्मरण हुआ यह स्मरण जब तक मनमें है तभी तक 'लाओ' पद के अर्थ का भी स्मरण हुआ फिर इन दोनों पदों में आकांक्षा योग्यता सन्निधि—इन तीन सम्बन्धों के द्वारा दोनों पदों के अर्थ का स्मरण जब तक मनमें है तभी तक दोनों अर्थों के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है। यही क्रम वाक्यार्थ के जानने का है। इस प्रकार पद के अर्थ का ज्ञान होता है सो न्यायवार्तिक (३.२.५५) में कहा है—'पूर्व पूर्व अक्षर के स्मरण की सहायता से अन्तके अक्षरके ज्ञान से पदके अर्थका ज्ञान होता है'।

इस क्रम से जब वाक्यार्थज्ञान होता है तब साक्षात् कारण तो मूल ज्ञान में वाक्य हुआ। परन्तु वाक्य में जो पद हैं उन्हीं को वाक्यार्थज्ञान का मूल कारण मानना चाहिये। एक एक कर अक्षरों को सुनकर पद का ज्ञान होता है। फिर एक एक कर पदों को सुनकर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

परन्तु वर्णों का स्वयं अपना कुछ अर्थ नहीं होता है इससे पदों ही को वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण माना है। इससे पदों में दो तरह की शक्ति मानी गई है। एक अभिधात्री शक्ति जिससे पद अपने अर्थ को बोधित करता है। दूसरी तात्पर्यशक्ति जिससे कई पद के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध बोधित होता है। यही तात्पर्य-शक्ति वाक्यार्थ ज्ञान का कारण होता है (न्यायमंजरी. पृ. ३८६,४०४)

पदों का समूह वाक्य है। 'पद' क्या है। 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' ऐसा लक्षण गौतम सूत्र (२.२.५५) में है। जब कई अक्षरों के अन्त में कोई विभक्ति होती है तो वे 'पद' कहलाते हैं।

य विभक्ति दो तरह की होती हैं--नामविभक्ति, आख्यात-विभक्ति। इस से नाम (संज्ञा) और आख्यात (क्रिया) दो ही तरह के पद नैयायिकों ने माने हैं (न्यायवार्तिक पृ. ३१४) जिस शब्द का अभिधेय-जो वस्तु उस से कही जाय और किसी क्रियासे सम्बन्ध रखता हो उस शब्द को 'नाम पद' कहते हैं। इसी से कहा है कि जिस वाक्य में कोई क्रिया न पाई जाय तो वहां 'अस्ति' या 'भवति' क्रिया का अध्याहार होता है। क्योंकि बिना एक क्रिया के किसी नाम पद का अर्थ सम्पन्न नहीं होता। जब कभी किसी चीज़ का 'नाम' उच्चारण किया जायगा तब किसी क्रिया से सम्बद्ध वह चीज़ अवश्य होगी। इसी से वाचस्पति मिश्र ने (तात्पर्य. पृ. ३३०) कहा है कि नाम पद किसी क्रिया से सम्बन्ध रखता है इतनाही नहीं—किन्तु बिना किसी क्रिया के उसका स्वरूप सम्पन्न ही नहीं हो सकता। यही भेद 'क्रिया' पद से इसका है। किसी क्रिया से सम्बन्ध तो क्रिया पद भी कभी कभी रखता ही है-जैसे (खाते खाते जाता है) यहां जाना क्रिया खाना क्रिया से सम्बद्ध है। किन्तु क्रिया पद में ऐसा नहीं है कि क्रिया सम्बन्ध के बिना वह रह ही नहीं सकता। क्योंकि 'राम जाता है' यहां जाना क्रिया किसी क्रिया से सम्बद्ध नहीं है। इस तरह क्रिया के बिना किसी नाम पद का प्रयोग नहीं हो सकता। जिस शब्द का मुख्य अर्थ कोई क्रिया ही हो- और जो उस क्रिया का भूत वर्तमान या भविष्यत् काल से सम्बन्ध सूचित करे- उसको 'क्रिया' पद कहते हैं।

इस पर यह शंका होती है कि यदि नाम और क्रिया दोही पद हैं तो क्या अव्यय पद नहीं है। इसका समाधान भाष्यकार ने किया है कि अव्यय पद अवश्य हैं। पर वे 'नाम' में अन्तर्गत हैं। इन में यद्यपि नामविभक्ति कोई नहीं पाई जाती तथापि इनमें विभक्ति नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं। इनमें भी और नाम पदों की तरह सुबन्त विभक्तियां रहती हैं पर उनका लोप हो जाता है। यही भेद अव्यय पद और नाम पद में है। एक में सुबन्त विभक्ति वर्तमान रहती है और दूसरे में लुप्त रहती है।

वाक्यों ही से कुछ विशेष बात कही जा सकती है-खाली पद

से कोई भी बात नहीं कही जा सकती है-खाली 'घोड़ा' कह दिया तो इससे कुछ नहीं जाना जाता है। जब इसके साथ 'दौड़ता है' इसको लगा देते हैं और पूरा वाक्य बना लेतेहैं तभी 'घोड़े का दौड़ना' कहा जाता है। इससे कुछ लोगों का कहना है कि पद वाचक नहीं है-वाक्य ही वाचक है।

इसका समाधान वार्तिककार ने किया है कि यदि 'घोड़ा' पद का कुछ अर्थ ही न होता तो 'दौड़ता है' पद लगाने से भी इसका अर्थ कहां से आ जाता। इससे सिद्धान्त यह है कि जब तक केवल 'घोड़ा पद कहा गया है तब तक सामान्यतः-मामूली तौर पर-एक तरह' के जानवर का ज्ञान होता है, उसके प्रसंग में किसी विशेष बात का ज्ञान नहीं होता। जब कोई क्रिया पद-'दौड़ता है'-उसके साथ लगाया गया तब मामूली तौर से एक तरह के जानवर का जो ज्ञान हुआ था उसके विषय में एक विशेष बात जानी जाती है।

अब यह सन्देह उठता है कि पद का अर्थ क्या है। गौतमसूत्र २।२।५६ में यह प्रश्न उठाया है कि जब हमने 'घोड़ा' पद का उच्चारण किया तो इससे किस अर्थ का ज्ञान होता है। (१) क्या किसी खास घोड़े का? (२) अथवा घोड़ों के शरीर का जो आकार होता है उसका? या (३) सामान्यतः जिस जाति का जानवर घोड़ा है उस जाति का? 'व्यक्ति आकार और जाति में क्या भेद है सो ६४,६५,६६, सूत्रों में गौतम ने बतलाया है। वह भूत-पदार्थ-जिसमें खास खास गुण रहे और जो आंखों से देखा जाय या और इन्द्रियों से जाना जाय —उसीको 'व्यक्ति' कहते हैं। जिन अवयवों से वस्तु की जाति सूचित हो-जिन जिन अंगों के रहने से यह वस्तु अमुक जाति की है ऐसा ज्ञान हो-उन्हीं अवयवों को 'आकृति' कहते हैं। जिससे बहुत वस्तुओं का ज्ञान एक साथ कराया जाताहै—जिसके द्वारा भिन्न भिन्न वस्तु एक मानी जाती हैं—उसको 'जाति' कहते हैं। मीमांसकों ने 'जाति' और 'आकृति' को एकही माना है।

सूत्र ५७ में 'घोड़ा' पद से किसी एक खास घोड़े का ज्ञान होता है सो पक्ष उठा कर सूत्र ५८ में उसका खंडन किया है-यदि कोई खास एक घोड़ा इस शब्द से कहा जाता तो फिर उस घोड़े

को छोड़ कर और दूसरा कोई घोड़ा उस पद से नहीं कहा जा सकता। और फिर यदि एक एक कर प्रति घोड़े को इस पद का अर्थ मानें तो एक पद के अनन्त अर्थ मानने पड़ेंगे। इससे यह पक्ष स्वीकार के योग्य नहीं है। सूत्र ६० में आकार ही शब्दार्थ है इस पक्ष को कहा है-जब हम 'घोड़ा' पदको सुनते हैं तो घोड़ा के शरीर का जो आकार है—जिस आकर के रहने से जानवर 'घोड़ा' कहलाता है-उसी आकार का ज्ञान हमको होता है। अनुभव भी ऐसा ही होता है-जानवरों के शरीर के आकार ही को देखकर हम यह जान सकते हैं कि यह घोड़ा है या गाय। इस पक्ष में भी वही दोष है-जितने घोड़े हैं उतने ही आकार भी हैं। इससे यदि एक का आकर 'घोड़ा' पद से कहा जायगा तो दूसरे घोड़े का आकार उस पद से नहीं कहा जा सकता। जैसा आकार एक घोड़े का है ठीक वैसाही दूसरे घोड़े का कभी नहीं हो सकता। इससे फिर भी 'घोड़ा' पदकी अनन्त शक्ति माननी पड़ेगी। और यदि आकार ही 'घोड़ा' पद का अर्थ होता तो मिट्टी का घोड़ा भी घोड़ा कहलाता है। उसके शरीर का आकार भी घोड़ों की तरह होता है। सूत्र ६१ में इस पक्ष को उठाया है कि घोड़ा पद का अर्थ 'जाति है। जो दोष व्यक्ति या आकार पक्ष में हैं वे इस पक्ष में नहीं पाए' जाते। जिन चिह्नों से कुल घोड़े एक जाति के जानवर माने जाते हैं उन्हीं चिह्नों की एक साथ जो कल्पना की जाती है उसीको 'जाति' कहते हैं—यह जाति एक एक घोड़े में भिन्न नहीं है-सबमें एकही जाति है। इससे इस पक्ष में अनन्त शक्ति की आवश्यकता नहीं होगी। सूत्र ६२ में इस पक्ष का भी खंडन किया है। किसी शब्द से शुद्ध जाति मात्र का ज्ञान नहीं होता। जब कभी घोड़ा जाति का। ज्ञान होता है तब पहिले खास किसी घोड़े का और उसके शरीर का ज्ञान हो लेता है तभी जाति का ज्ञान होता है। इससे जाति का ज्ञान पद से यदि हो भी तो और नये दोष कोई हों या न हों जितने दोष व्यक्ति और आकार वाले पक्षों में बतलाये गए हैं-वे सब इस पक्ष में भी अवश्य होंगे।

इन तीनों पक्षों का खंडन करके सू. ६३ में यह सिद्धान्त किया है कि जब कभी 'घोड़ा' पद हम सुनते हैं तब खाली किसी एक

खास घोड़े का-वा खाली घोड़ों के शरीर के आकार का-वा खाली घोड़ा जाति का ज्ञान नहीं होता। जो ज्ञान घोड़ा पद के सुनने से उत्पन्न होता है उसमें व्यक्ति आकार और जाति तीनों भासित होते हैं। इस पक्ष में कोई भी दोष नहीं है। यद्यपि इन तीनों का ज्ञान होता है तथापि कहीं एक प्रधान होता है और कहीं दूसरा। जिस वाक्य से किसी खास घोड़े के प्रसंग में कुछ खास बात कही जाती है, जो कि और घोड़े में नहीं है उस वाक्य में 'घोड़ा' पद के अर्थ में वह खास एक घोड़ा प्रधान रहता है और आकार जाति गौण रहते हैं। जैसे 'यह घोड़ा काला है' यहां पर यद्यपि घोड़ा पद से व्यक्ति आकार और जाति तीनों का ज्ञान होता है तथापि प्रधानतः उसमें खास एक घोड़े का ज्ञान होता है। इसी तरह जिस वाक्य से कुल घोड़े के प्रसंग में कोई बात कही जाय उस वाक्य में घोड़ा पद के अर्थ में 'जाति ही मुख्य रहती है, व्यक्ति-आकार गौण रहते हैं। जैसे 'घोड़े के चार पैर होतेहैं' जिस वाक्य में आकार ही सूचित करने के लिये पद का प्रयोग होता है वहां आकार ही प्रधान होता है-जैसे 'यदि असल घोड़ा नहीं मिलता है तो मिट्टी का घोड़ा बनालो'-इस वाक्य में घोड़े के शरीर का आकार ही 'घोड़ा' पद से कहा जाता है। कई पद ऐसे हैं जो एक ही चीज़ के नाम हैं-जैसे 'आकाश' ईश्वर इत्यादि- ये केवल व्यक्ति ही को बतलाते हैं।

नाम पद का अर्थ यों होता है। क्रिया पद का अर्थ व्यापार है। जैसे 'घोड़ा दौड़ता है' इस वाक्य में 'दौड़ता है' क्रिया पद है। इस से दौड़ना रूपी व्यापार का ज्ञान होता है।

पदशक्ति

पद से व्यक्ति, आकार तथा जाति का ज्ञान होता है। पदों में कौन सी शक्ति है जिससे वे ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। मीमांसकों का मत है कि शब्द में एक स्वाभाविक शक्ति है जिससे वह अपने अर्थ को बोधित करता है। शब्द का अपने अर्थ से सम्बन्ध नित्य है खाली इसका ज्ञान हमको वृद्धों की बातों को सुन कर होता है। 'घोड़ा' पद का घोड़ा जानवर के साथ सम्बन्ध नित्य है। ज़ब से

यह जानवर है तब से इसका नाम घोड़ा ही रहा है और रहेगा। इसका व्यवहार भी अनादि काल से चला आया है। वृद्धों की बात चीत सुनकर हमको इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है। शब्द का अपने अर्थ के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्दों से अर्थ का जिसके द्वारा ज्ञान होता है उसका नाम 'समय' या "संकेत" है अर्थात् "यह शब्द इस अर्थ का बोधन करे" ऐसा जो संकेत शब्दों के प्रसंग में किया जाता है यही सम्बन्ध शब्द और अर्थ का होता है। किसी शब्द में स्वभावतः कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह अपने अर्थ का बोधन करे। भाष्यकार (२। १।५५-५६) के मत से यह संकेत या समय इस प्रकार का है—'इस शब्द से यह अर्थ समझा जाय' ऐसा जब कोई ठीक कर देता है तब से उस शब्द के साथ उस अर्थ का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि जब उस शब्द का उच्चारण होगा तब उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होगा। यदि नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध शब्दों का अर्थ के साथ होता तो एकही शब्द से भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अर्थ का ज्ञान नहीं होने पाता। देशभेद में भिन्न अर्थ कहे जाते हैं इससे यह साफ़ ज्ञात होता है कि जिस अर्थ के प्रसंग में जिस शब्द का संकेत जिस देश में किया गया है उस देश में वह शब्द उसी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करता है। इस संकेत का ज्ञान लोकव्यवहार से होता है। माता की बातों को सुन सुन कर बच्चा यह समझ लेता है कि इस शब्द का यह अर्थ है। भाष्य और वार्तिक में इतनाही कहा है। इनमें 'ईश्वर ही का किया हुआ संकेत संकेत है' ऐसा नहीं कहा, वरन् स्वाभाविक सम्बन्ध के विरुद्ध जो हेतु यहां कहा है उसी हेतु से 'ईश्वर का किया हुआ संकेत है' इसका भी खंडन होता है। यदि ईश्वर का किया हुआ संकेत होता तो सब देशों में सब लोगों को एक शब्द से एक ही अर्थ का ज्ञान होता। पर ऐसा नहीं है। इससे संकेत ईश्वर का किया हुआ नहीं हो सकता। विश्वासपात्र आदमी जब संकेत कर देता है तो उसी से उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है, ऐसा मत प्राचीन नैयायिकों का साफ़ ज्ञात होता है। परंतु वाचस्पति मिश्र ने (पृ० २०६) लिखा है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ही ऐसे

संकेत को करता है कि अमुक शब्द से अमुक वस्तु कही जाय, इत्यादि। इसी पक्ष को न्यायमंजरी में (पृ. २४१) पुष्ट किया है। जो शब्द इसी तरह अनादि व्यवहार से पाये जाते हों उन्हीं में शक्ति है। ईश्वर का किया हुआ संकेत जिन शब्दों का है वेही शब्द शक्ति कहलाते हैं। आज कल जो मनुष्यों के वा और वस्तुओं के नाम धरे जाते हैं वे भी उन मनुष्यों का या उन वस्तुओं का बोध तो अवश्य कराते हैं और इनके प्रसंग में किसी पुरुष का किया हुआ संकेत अवश्य रहता है 'अमुक का नाम मैं यह धरता हूं', और जैसे पुराने शब्दों के संकेत का ज्ञान वृद्धों की बात चीत से जाना जाता है उसी तरह इनके अर्थ का भी ज्ञान होता है,-पर इन पदों में वैसी वाचकता शक्ति नहीं है जैसे पुराने शब्दों में। क्योंकि उनका संकेत सर्वज्ञानवान् ईश्वर का किया हुआ है और इनका संकेत आज कल के मनुष्य करते हैं जिस में अशुद्धियों का होना बहुत सहज है। इन दोनों तरह के शब्दों के और भी भेद हैं। जिन शब्दों का अर्थ सृष्टि के आदि में ईश्वर के संकेत से सिद्ध है उनका रूप या अर्थ बदल नहीं सकता। 'अश्व' पद से घोड़ा ही कहलावेगा। लौकिक शब्दों के अर्थ में हेर फेर होता रहता है। एकही नाम से एक आदमी एक चीज़ को पुकारेगा और दूसरा आदमी उसी नाम से दूसरी चीज़ को। इसके अनुसार नवीन नैयायिकों का सिद्धान्त है कि ईश्वर कृत संकेत ही को 'शक्ति' कहेंगे, आधुनिक संकेत को 'परिभाषा' कहेंगे। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत भाषा ही के शब्दों में वाचकता शक्ति है। और भाषाओं के शब्द वाचक तो हो जाते हैं, क्योंकि पुरुष का किया हुआ संकेत इनमें भी है, पर शक्ति इनमें नहीं मानते, ये केवल पारिभाषिक हैं, क्योंकि इनके संकेत का करने वाला सर्वज्ञ ईश्वर नहीं है। ईश्वर के किये हुए संकेतों में किसी तरह का सन्देह नहीं हो सकता।

यहां एक शंका उठती है। ईश्वर जब आदि में संकेत करता है तो किन शब्दों द्वारा करता है। 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो', अस्मात् शब्दात् अयमर्थो बोद्धव्यः 'इन शब्दों का व्यवहार जो ईश्वर करता है सो ये शब्द कहां से आते हैं और इनका

संकेत किसने किया है। ईश्वर ने तो अब तक कोई संकेत नहीं किया है।

इसका समाधान नैयायिक इतना ही करते हैं कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान् सर्वज्ञ है, ऐसा जब इस प्रमाण से सिद्ध कर देते हैं तब ईश्वर ने कैसे इस काम को किया या कर सकता है, ये सब प्रश्न व्यर्थ हैं। वह सब कुछ कर सकता है, वह कैसे करता है सो हम लोगों के समझ में नहीं आ सकता। प्रति सृष्टि के आदि में वह 'प्रति-पाद्य प्रतिपादक' शरीरद्वय बनाकर सब शब्दों का व्यवहार करता है।

नवीन नैयायिकों ने भाष्यकार ही के मत का समर्थन करते हुए माना है कि ईश्वर की इच्छा से पद की शक्ति है ऐसा नहीं, पुरुष मात्र की इच्छा से शक्ति होती है। इसी से सब काल के सब भाषाओं के सब तरह के शब्दों में एक तरह का संकेत सिद्ध होता है। और इसी संकेत के द्वारा इन शब्दों से भी शाब्द-ज्ञान होता है।

पद की शक्ति नैयायिकों ने तीन प्रकार की मानी है। (१) कई पद ऐसे हैं जिनका अर्थ वही है जो उनके खंडों से सूचित होता है जैसे 'पाचक' शब्द—इसका अर्थ है पकानेवाला। इस शब्द से जो 'पच' धातु और 'ण्वुल' प्रत्यय हैं इनका अर्थ भी 'पकानेवाला' है। इससे यह शब्द 'यौगिक' कहलाता है और इनकी शक्ति 'अवयव शक्ति' वा 'योगशक्ति' कहलाती है।

(२) कई पद ऐसे हैं जिनके अपने खंडों से या तो कोई अर्थ ही नहीं प्रतीत होता है, या यदि होता भी है तो उनका जो अर्थ है उससे इस अर्थ का कुछ सम्बन्ध नहीं-'जैसे' घट पद में 'घ' और 'ट' ये दो अक्षर हैं। इनका कुछ अर्थ नहीं है। यदि कुछ एकाक्षर कोष से इन अक्षरों के अर्थ निकल भी जायँ तो इन अर्थों का घड़े के साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है—और 'घट' पद से घड़े ही का बोध होता है। ऐसे पद 'रूढ़ पद' कहलाते हैं और इनकी शक्ति को 'समुदाय शक्ति' वा 'रूढ़ि-शक्ति' कहते हैं।

(३) कई पद ऐसे हैं जिनके खंड से जो अर्थ प्रतीत होता है उसका सम्बन्ध उनके संकेतित अर्थ से भी रहता है। जैसे 'पंकज'

पद का संकेतित अर्थ है 'कमल' और पंकज पद में जो 'पंक' शब्द 'जन' धातु और 'ड' प्रत्यय है उसका अर्थ होता है 'पंक से उत्पन्न हुआ'। कमल भी पंक से उत्पन्न होता है। इससे इस पद में संकेतित अर्थ जो है सो यौगिक अर्थ से भी मिलता हुआ है। ऐसे पद 'योगरूढ़' कहलाते हैं। और इनकी शक्ति 'योगरूढ़ि' कहलाती है।

'यौगिकरूढ़ि' भी कोई आचार्य्य मानते हैं। जिस पद से अवयव शक्ति से अलग और समुदाय शक्ति से अलग अर्थ बोधन किया जाता है जैसे 'उद्भिद्' शब्द है। इस पद में अवयवशक्ति द्वारा 'ऊपर बढ़ने वाला' वृक्षादि अर्थ और समुदायशक्ति द्वारा योग विशेष बोधित होता है।

पद के अर्थ का ज्ञान संकेत से होता है। और ऊपर कह आये हैं कि पद का असल अर्थ व्यक्ति आकार और जाति तीनों मिला हुआ होता है। इससे संकेत भी ऐसाही होगा। फिर यह सन्देह भाष्यकार ने उठाया है (पृ० १२३) कि अकसर पदों से खाली व्यक्ति का बोध होता है या जो असल अर्थ जिस पद का है सो अर्थ नहीं बोधित होता-किसी दूसरे ही अर्थ का बोध होता है—यह कैसे होता है। इस पद की किस तरह की शक्ति है? इसका समाधान गौतम ने २। २। ५९ सूत्र में किया है। जिस शब्द का यह अर्थ नहीं भी है वह शब्द भी कभी कभी उस अर्थ का कई कारणों से बोधन करा सकता है। (१) जैसे कभी लोगों के खिलाने के समय खिलाने वाला ऐसा कहता है—'अब लाल पगड़ियों को खिला दो' इसका अर्थ होता है कि लाल पगड़ी वाले आदमी को खिलवा दो। 'लाल पगड़ी' इस शब्द से 'लाल पगड़ी वालों' का ज्ञान होता है। इसमें कारण है 'सह चरण' अर्थात उन आदमियों का लाल पगड़ी के साथ होना। (२) इसी तरह जब पाठशाला में किसी दरजे में शोर होता है तो लोग कहते हैं 'वह दरजा बड़ा शोर कर रहा है' 'दरजा' शब्द से 'दरजे. में रहने वाले लड़कों' का ज्ञान होता है। इसका कारण है 'स्थान' अर्थात् उस दरजे में लड़कों का रहना। (३) मकान बनाने के लिये जब कोई आदमी ईंटा इकट्ठा करता है तो लोग

कहते हैं 'यह मकान बना रहा है' जहां मकान बनाने का अर्थ 'ईंटा इकट्ठा करना' होता है। इसका कारण होता है 'तादर्थ्य' अर्थात् 'मकान बनाने के लिये ईंटा का इकट्ठा होना'। (४) किसी बड़े दुष्ट आदमी के प्रसंग में लोग कहते हैं 'यह राक्षस है' जहां पर 'राक्षस' पद का अर्थ 'दुष्ट' होता है। इसका कारण है 'वृत्त' अर्थात् दुष्ट आदमी के आचरण का राक्षस के समान होना। (५) सेर से तौल कर जब आंटे को रख कर लाते हैं तो कहते हैं 'यह एक सेर है' जहां पर एक सेर का अर्थ होता है 'एक सेर के तौल से तुला हुआ' इसका कारण होता है 'मान' अर्थात् आंटा का सेर से नापा जाना। (६) चावल से भरी हुई टोकरी को लोग 'चावल की टोकरी' कहते हैं यहां 'चावल' का अर्थ होता है, 'चावल से भरी हुई' इसका कारण है 'धारण' अर्थात्— 'चावल' का उस टोकरी में भरा जाना। (७) गंगा के तीर पर गाय चरती हैं तो लोग कहते हैं 'गाय गंगा में चर रही है'। यहां 'गंगा' पद से गंगातीर का बोध होता है। इस में कारण है 'सामीप्य' अर्थात् तीर का 'गंगा' के समीप होना। (८) लाल रंग से रंगे कपड़े को 'लाल कपड़ा' कहते हैं। यहां 'लाल' पद का 'लाल रंग से रंगा हुआ' ऐसा अर्थ होता है इसका कारण है 'योग' अर्थात् लाल रंग का संयोग उस कपड़े में होना। (९) अकसर लोग कहते हैं 'अन्न ही प्राण है' जहां पर 'प्राण' शब्द का अर्थ 'प्राणरक्षा का उपाय' होता है। इसमें कारण है 'साधन'- अर्थात् अन्न का प्राण रक्षा का साधन होना। (१०) किसी वंश के मुख्य पुरुष को उस वंश के नाम से कहते हैं 'ये सिसोदिया हैं,-यहां 'सिसोदिया' पद का अर्थ होता है 'सिसोदिया कुल का मुख्य आदमी'। इस का कारण है 'आधिपत्य' अर्थात् उस आदमी का उस कुल में मुख्य होना।

इससे यह स्पष्ट है कि नैयायिकों ने 'शक्ति' और 'लक्षणा' दो तरह का अर्थबोधक सामर्थ्य पदों में माना है।

पदों के अर्थ का ज्ञान बच्चों को अपनी माता की बात चीत से होता है ऐसा न्यायवार्तिककार ने लिखा है। यह पद के अर्थ के ज्ञान का प्रकार एक उदाहरण रूप से कहा है सो बच्चों

के लिये तो ठीक है। पर बड़े होने पर भी हम लोग कितने नये नये पद के अर्थ सीखते हैं। नये नये पदों के अर्थ जानने के प्रकार आठ बतलाये गये हैं। (१) व्याकरण के द्वारा धातुप्रत्यय और विभक्तियों के अर्थ को जान कर जब हम पद के अर्थ को जानते हैं। जैसे 'पाचक' पद में 'पच' धातु और ण्वुल प्रत्यय है यह समझ कर हम उस पद का अर्थ 'पाक करने वाला' समझते हैं। (२) उपमान से। 'गवय' पद का अर्थ क्या है सो हम उपमान प्रमाण से जानते हैं। जैसा ऊपर कह आये हैं। (३) कोश से। कोश में पदों के अर्थ कहे हुए हैं। उसको देख कर हम समझ जाते हैं कि इस पद का यह अर्थ है। (४) विश्वासपात्र आदमी के वाक्यों से। जब विद्यार्थी किसी पद का अर्थ नहीं समझता तो गुरु बता देता है कि इस पद का यह अर्थ है। (५) वृद्धों के व्यवहार से। जब एक वृद्ध एक जवान आदमी से कहता है 'लोटा लाओ' इस पर जवान आदमी लोटा ले आता है। फिर वह कहता है 'लोटा ले जाओ, गिलास लाओ' फिर जवान आदमी एक को रख कर दूसरी चीज़ ले आता है। बुद्धिमान लड़का इन सब व्यवहारों को देख कर समझ जाता है कि 'लोटा' 'गिलास' 'लाओ' 'ले जाओ' किसे कहते हैं। (६) वाक्य शेष से। जैसे मालिक ने कहा 'तरकारी भून लो' 'घी में या तेल में भूनो' यह नहीं कहा-थोड़ी देर के बाद कहता है 'यह तरकारी घी की भुनी अच्छी होती है'। इस वाक्य के शेष से नौकर समझ जाता है कि तरकारी घी में भुनी जायगी। (७) व्याख्या से। रासभ पद का अर्थ न जानने वाला आदमी जब किसी टीका में देखता है-'रासभो गर्दभः' तब समझ जाता है कि रासभ गदहा है। (८) प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। 'इस सहकार वृक्ष पर कोकिल कूज रही है', -इस वाक्य को सुनने वाला 'सहकार' पद का अर्थ न जानता हो तौ भी कोकिल पद के अर्थ को जानकर ही समझ जाता है कि 'सहकार' आम है।

शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी वृत्ति 'व्यंजना' भी आलंकारिकों ने माना है पर नैयायिक इसे पृथक् वृत्ति नहीं मानते॥

नैयायियों के मत से प्रमाणों की संख्या चारही मानी गई है।

गौतम २. २. १ सूत्र में शंका उठाई है कि और दर्शनों में इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति, ऐतिह्य, सम्भव और अभाव-ये चार और प्रमाण माने हैं। जब किसी आदमी को बिना रोगादि के मोटा देखा और साथही यह जाना कि यह आदमी दिन को नहीं खाता तो इससे यह मालूम हो जाता है कि यह रातही में खाता है। इसी ज्ञान के कारण को अर्थापत्ति प्रमाण माना है। जिस बात के बिना किसी देखी हुई या सुनी हुई बात-'अर्थ'-में 'कोई अपत्ति'-दोष-देख पड़ता हो उस बात का ज्ञान 'अर्थापत्ति ज्ञान' कहलाता है। किसने कहा सो ठीक नहीं मालूम है पर कोई बात लोगों में प्रसिद्ध हो जाती है—जैसे इस पेड़ में भूत रहता है—इसको लोगों ने 'ऐतिह्य' माना है। किसी चीज में उनके टुकड़ों का रहना जिस प्रमाण से माना जाता है—जैसे सेर में छटांकों का होना इत्यादि—उसको 'संभव' प्रमाण माना है। 'यहां पर अमुक वस्तु नहीं है' यह ज्ञान जिस प्रमाण से होता है उसको 'अभाव' प्रमाण माना है।

अकसर लोगों ने लिखा है कि नैयायिकों ने इन प्रमाणों को नहीं माना है। जिन उपायों से किसी तरह का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो उनको न्यायप्रिय नैयायिक प्रमाण न माने यह कब हो सकता है। इन चारों से जब कभी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होगा तब ये 'प्रमाण' अवश्य हैं। पर मीमांसक वेदान्ती तथा पौराणिकों से नैयायिकों का भेद इतना ही है कि इन्हों ने इनको अपने कहे हुए चार प्रमाण ही में अन्तर्गत माना है। अर्थापत्ति एक तरह का—व्यतिरेक—अनुमान ही है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान किसी नियत सम्बन्ध द्वारा जो होता है वही अनुमान है। अर्थापत्ति में भी आदमी का मोटा होना प्रत्यक्ष है इससे रात को खाना जो अप्रत्यक्ष है उसका ज्ञान होता है। जब आदमी मोटा है तब खाता जरूर है—यह खाना क्या रात को हो सकता है या दिन में—दिन में यह नहीं खाता है—तो निश्चय है कि रात में खाता है—यह एक तरह का अनुमान ही हुआ। ऐतिह्य से जो ज्ञान होता है सो यथार्थ या सत्य तभी होगा जब इसका प्रथम कहनेवाला कोई विश्वासपात्र आदमी होगा। और ऐसी दशा में यह

'आप्तोपदेश' रूप शब्द प्रमाण ही होगा । जब कहने वाला आप्त नहीं है तब उसके कहे हुए शब्द मे सत्य ज्ञान ही नहीं हो सकता । किसी वस्तु के टुकड़े उसके साथ सदा रहते हैं यह तो व्याप्ति प्रसिद्ध ही है—फिर जब हमें सेर में छटांक का ज्ञान होता है तो इसी व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न हुआ है—यह शुद्ध अनुमान ही है । अभाव को भी अनुमान ही मानते हैं । 'यहां फल नहीं है' यह ज्ञान हम को तभी होता है जब यह समझ लेते हैं कि यदि फल यहां होता तो मैं अवश्य देखता—मै फल को देखता नहीं हूं—इस लिये फल यहां नहीं है'—यह शुद्ध अनुमान हुआ । जिस चीज के रहने से भी मैं उसे नहीं देख सकता उसके अभाव का ज्ञान मुझे नहीं हो सकता । इत्यादि भाष्य वार्तिक में स्पष्ट लिखा है ।



(२) दूसरा पदार्थ

प्रमेय

प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' का निरूपण हो चुका। यथार्थ ज्ञान जिससे हो उसको 'प्रमाण' कहते हैं। अब यथार्थ ज्ञान किन चीज़ों का होता है उसका विचार होगा। जिन चीज़ों का यथार्थ ज्ञान हो सके वेही 'प्रमेय'—'प्रमाण के विषय'—हैं। ऐसा 'प्रमेय' का लक्षण भाष्य पृ. २३ से स्पष्ट होता है। परन्तु गौतम ने १, १. ७ सूत्र में जो बारह प्रमेय गिनाये हैं उनसे प्रायः अधिक और कितनी वस्तु हैं जिनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—इस बात का विचार कर वार्तिककार ने (पृ. ६४) कहा है कि 'प्रमेय' पद से गौतम का उन्हीं वस्तुओं से मतलब है जिनके यथार्थ ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष प्राप्त हो, और जिनके न जानने से या अशुद्ध ज्ञान से जन्म मरण संसार में होता रहे। ऐसी वस्तु वेही बारह हैं जिनको गौतम ने १. १. ७ सूत्र में गिनाई हैं। भाष्यकार ने (पृ. २४) में कहा है-द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय भी प्रमेय माने गये हैं। पर इनके भेद असंख्य हैं—इससे सूत्रकार ने उन्हीं वस्तुओं को प्रमेय कहा है जिनके ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से जन्म मरण होता है' ये यों हैं—

(१) आत्मा—सब चीज़ों का देखने वाला, भोग करने वाला, जानने वाला, अनुभव करने वाला। (२) शरीर—भोगों का आयतन—आधार। (३) इन्द्रिय—भोगों का साधन—जिनके द्वारा भोग होता है। (४) अर्थ—वे वस्तु जिनका भोग होता है। (५) बुद्धि—भोग। (६) मन—अन्तःकरण अर्थात् वह भीतर की इन्द्रिय जिसके द्वारा कुल चीज़ों का ज्ञान हो सकता है। (७) प्रवृत्ति—वचन मन और शरीर का व्यापार। (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है। (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म। (१०) फल—सुख दुःख का संवेदन या अनुभव। (११) दुःख-पीड़ा, क्लेश। (१२) अपवर्ग-दुःख से अत्यन्त—एक दम-मुक्ति। इन्हीं बारहों प्रमेयों को यथार्थ जानकर आदमी यह समझता है कि इनमें किस का ग्रहण करना और

किसका त्याग । फिर इनके प्रसंग जो मिथ्याज्ञान है उनको वह दूर करता है । इस तरह अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के दूर होने से अपवर्ग रूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है । जितने पदार्थ गौतम ने प्रथम सूत्र में दिखाये हैं—जिनके ज्ञान से परम पुरुषार्थ कहा गया है—वे सब 'प्रमेय' में अन्तर्गत हैं । प्रमेय ही के ज्ञान से अपवर्ग होता है, ऐसा भाष्य में (पृ. २) स्पष्ट कहा है । प्रथम सूत्र में पदार्थों का उस क्रम से परिगणन किस मतलब से है सो इस ग्रंथ के आरम्भ में विचार किया गया है ।

आत्मा ।

आत्मा सब का द्रष्टा, सब का भोक्ता, सब का जानने वाला, सब का पाने वाला है—ऐसा भाष्य (पृ. २३) में लिखा है । इसका अर्थ वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (पृ. १४१) में यों किया है—'सब का द्रष्टा'--सुख और दुःख देनेवाली जितनी चीज़ें हैं उनका देखनेवाला । 'सब का भोक्ता'–सब सुख दुःख का भोगने वाला । 'सबका जानने वाला'—जितनी चीज़ें हैं सब सुख दुःख देती हैं और आत्मा ही कुल सुख दुःख का भोग करता है--इससे आत्मा सब चीज़ों का जानने वाला कहलाता है । 'सब का पाने वाला'--जब तक कोई चीज़ पाई या पहुँची नहीं जाती, तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता, इससे सब का जानने वाला आत्मा सब का पाने वाला कहलाता है ।

ऐसा आत्मा है । अब यह सन्देह उठता है कि आत्मा को हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते--तो क्या आत्मा है सो हमको केवल आप्तोपदेश वेद ही के भरोसे पर मानना होगा या इसमें और भी कोई प्रमाण हो सकता है । गौतम ने १ । १ । १० सूत्र में कहा है कि आत्मा है यह बात अनुमान से सिद्ध होती है । ऐसा मत भाष्यकार का है । पर न्यायमञ्जरीकार से लेकर नवीन नैयायिकों तक सभी आत्मा को प्रायः प्रत्यक्ष भी मानते हैं । न्यायमञ्जरी (पृ॰ ३३-३४) में कहा है वृद्धों के

मत से आत्मा अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। इस से यदि ऐसा मान भी लें तो हानि नहीं। पर असल में आत्मा का प्रत्यक्ष ही मानना ठीक समझ पड़ता है। क्यों कि जितने ज्ञान होते हैं उन सभों में आत्मा भी ज्ञातारूप से भासित होता है–ऐसा भाष्यकार का मत है। इससे यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा भासित होगा तो फिर इस का प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों न माना जाय? फिर आज हम एक चीज़ को देखते हैं, फिर चार दिन के बाद उसी चीज़ को देखते हैं तो हमको ऐसा ज्ञान होता कि है 'उस दिन जिस चीज़ को हमने देखा था उसी को मैं आज देखता हूं'। प्रत्यक्ष और इस प्रत्यभिज्ञान में दोनों दिन का देखने वाला भी भासित होता है। इससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान मानना उचित समझ पड़ता। इसी मत का स्वीकार करके नवीन नैयायिकों ने वैशेषिक मत के अनुसार आत्मा का इन्द्रियों का 'अर्थ' माना है।

इसका प्रत्यक्ष किस इन्द्रिय से होता है? इसके उत्तर में नवीन नैयायिकों ने मन को एक इन्द्रिय माना है। मन ही से आत्मा और सुख दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञान ये ही आत्मा के अनुमान के साधन-चिन्ह- हेतु-माने गए हैं। जब कोई आदमी कई चीजों को देख कर इनमें कौन दुःख देती है कौन सुख इसका विचार करता है तो सुख देने वाली चीज़ मुझको मिले, ऐसी अभिलाषा उसके मन में होती है।' इसीको 'इच्छा' कहते हैं। यह इच्छा उसी को हो सकती है जो चीजों को देखे और उनका विचार करे। चीजों का देखने वाला आत्मा ही है। इससे जहां इच्छा है वहां की चीजों के देखने वाले आत्मा का अनुमान हो सकता है। (२) इसी तरह यदि किसी चीज़ से द्वेष-हो तो 'मुझे वह चीज नहीं मिले' ऐसी अभिलाषा भी चीजों के देखने वाले ही को हो सकती है। इस से द्वेष से भी आत्मा का अनुमान होता है। (३) प्रयत्न या व्यापार दो तरह का होता है। किसी चीज को ग्रहण करने का अथवा उसे त्याग करने का। ग्रहण उसी वस्तु का किया जाता है जिससे ग्रहण करने वाले को सुख की आशा हो और वही चीज त्यागी जाती है जिससे उसको दुख का डर हो।

इसलिये प्रयत्न भी वही करेगा जिसको इच्छा या द्वेष होगा अर्थात् जो चीजों को देख भाल कर उनके दोष गुण का विचार करेगा। इससे प्रयत्न से भी आत्मा का अनुमान होता है। यदि एक एक बुद्धि या विज्ञान ही आत्मा होता तो एक एक चीजों का देखने वाला या विचार करने वाला कोई एक आत्मा नहीं हो सकता। (४) जब किसी चीज को पाकर हम यह जानते हैं कि यह चीज सुख देने वाली है क्योंकि किसी समय में जब हमको यह मिली थी तो मुझे सुख हुआ था—तो उस चीज के फिर मिलने पर सुख होता है। इसी तरह जिस चीज ने मुझे दुःख दिया है वह चीज जब मिलती है तब उस दुःख का स्मरण होता है और उस चीज के मिलने पर दुःख होता है। इससे दुःख भी उसी को होगा जिसने चीजों को देखा है, जो उनके स्वभाव को जानता है और गए दिन से लेकर आज तक एक रहा है। ऐसा एक आत्मा ही हो सकता है। इसलिये सुख दुःख से भी आत्मा का अनुमान होता है। (५) जब किसी चीज के ग्रहण करने की इच्छा होती है तब उस चीज को देखकर फिर हम यह विचार करते हैं—क्या यह वही चीज है जिससे मुझे सुख मिला था। फिर सोच कर ठीक करते हैं—हां यह वही चीज है। इस तरह जो चीजों का ज्ञान होता है वह भी उसी एक को हो सकता है जिसने चीज को देखा है, उससे सुख या दुःख भोग चुका है–इत्यादि। एक ऐसा आत्मा ही हो सकता है। इस तरह ज्ञान से भी आत्मा का अनुमान होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि एक आत्मा न होता तो जो चीजों को देखता है, इनसे सुख या दुःख भोगता है, इन बातों को स्मरण रखता है—इसके अनुसार इच्छा द्वेष रखता है—इनके अनुसार व्यापार करता है—ऐसा कोई होता ही नहीं। फिर ज्ञान इच्छा इत्यादि जितनी बातें प्रति दिन पाई जाती हैं—इनका होना सम्भव नहीं होता।

मानस के इन्द्रिय होने में नाना प्रकार के मतमतान्तर हैं। इससे मानस को प्रत्यक्ष भी सब लोग नहीं मानते। इसलिये आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए भी न्यायमंजरीकार ने अन्त में सिद्धान्त किया है कि सब बातों का विचार करने

पर आत्मा का अनुमेय ही मानना युक्तिसंगत ज्ञात होता है।
'अनुमेयत्वमेवास्तु लिंगनेच्छा दिनाऽऽत्मनः' (पृ. ४३४) ।

आत्मा है यह तो सिद्ध हुआ। अब यह शंका उठती है कि शरीर ही आत्मा है, या इन्द्रिय, या मन, या बुद्धि, या इन सभों का संघात—इन सभों से मिल कर बना हुआ कोई पदार्थ आत्मा है—या वह इनसे अलग कोई अपूर्व ही पदार्थ है। बौद्धों ने सब चीज़ों को क्षणिक माना है। इससे उनके मत से आत्मा कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। वे बुद्ध्यादिसंतान ही को आत्मा मानते हैं। इस क्षणिक-वाद का खंडन न्यायमंजरी में (पृ० ४५३-४६७) किया है। शरीर इन्द्रिय इत्यादि पदार्थों से अलग एक अपूर्व ही पदार्थ आत्मा है-ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है-(गौतम सूत्र-३।१-११-२७,)।

(१) इसके साधन में पहिला हेतु ३।१।१-३ सूत्रों में कहा है। एकही चीज को हम आंख से देखते हैं और हाथ से छूते भी हैं, जब ऐसा होता है तब मैं समझता हूं कि जिस चीज को मैं ने देखा उसी को मैं ने छूआ। इससे साफ ज्ञात होता है कि देखने वाला और छूने वाला एकही है। यदि इन्द्रिय देखता या छूता तो दोनों ज्ञान दोनों इन्द्रिय के होते। किसी एक का ज्ञान ये दोनों नहीं समझे जाते। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों से अलग ही कोई एक है जिसको चीजों का ज्ञान होता है। वही ज्ञाता आत्मा है।

(२) शास्त्रों में कहा है और बौद्धों ने स्वीकार किया है कि किसी जीव को मार डालने से पाप होता है। वस्तुतः जीव—आत्मा—मारा नहीं जा सकता है तथापि शास्त्रों में जिस हिंसा को पाप बतलाया है सो आत्मा का आश्रय जो शरीरादि उसके नाश करने ही का नाम है। मगर मार डालने वाले के शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई स्थिर वस्तु अनेक जन्म तक रहने वाला आत्मा नहीं होता जैसा कि बौद्धों ने माना है। उनके मत से सभी वस्तु क्षणिक है, चिरस्थायी कुछ नहीं—तब मारने से पाप किसको होता। जिसने मारा सो एक क्षण के बाद नष्ट हो गया, फिर वह पाप हुआ तो किसको हुआ। पर पाप होता है सो शास्त्र में कहा है। इससे मानना पड़ता है कि जीव को मारने वाला और मारने के पाप

का भागी कोई एक चिरस्थायी वस्तु है। वही वस्तु आत्मा है (सूत्र ३।१।४) ।

(३) किसी चीज़ को दाहिने हाथ से एक समय किसी ने छूआ। फिर थोड़ी देर के बाद बायें हाथ से उसी चीज़ को छूकर वह यह जान लेता है कि यह वही चीज है । यदि इन्द्रिय ही छूने वाली ज्ञाता होती तो दोनों वस्तु की छूने वाली तो इन्द्रिय एक नहीं थी फिर यह पहचान कैसे होती ? इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय के दो रहने पर भी असल ज्ञाता-छूने वाला एकही है। वही एक आत्मा है। (सूत्र० ३ । १ । ७)। दोनों हाथ मिल कर एक ही 'स्पर्श' इन्द्रिय हैं या दोनों आँख मिल कर एकही 'चक्षु' इन्द्रिय है ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक हाथ कट जाने से वा एक आँख के गिर जाने से वे इन्द्रिय एक दम नष्ट होजातीं और एक हाथ या एक आँख से कुछ काम नहीं हो सकता।

(४) जब मैं पका आम देखता हूं तब उसके स्वाद का स्मरण होता है और मुंह में पानी भर आता है । अर्थात् देखी गई चीज़ एक इन्द्रिय—आँख—से और उसका विकार हुआ दूसरी इन्द्रिय-जिह्वा-में। इससे भी ज्ञात होता है कि दोनों इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान हुआ है-आज का फल देखना और पहिले कभी फल खाना इत्यादि सब का ज्ञाता एकही है। (सूत्र ३।१।१२) यदि यह कहा जाय कि एकही चीज का नाना प्रकार का ज्ञान-स्मरण इत्यादि-मन के ही माने जा सकते हैं, इनसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती तो इसके उत्तर में सूत्रकार ने (सू० ३ । १ । १७) कहा है कि अभी मेरा इतना ही कहना है कि कुल ज्ञानों का 'ज्ञाता' कोई एक है। यदि उसका नाम आप 'आत्मा' न कह कर 'मन' ही कहें तो मेरी कुछ हानि नहीं । एक ज्ञाता सिद्ध हुआ उसी ज्ञाता को हम 'आत्मा' कहते हैं।

इन हेतुओं से बौद्ध मत का तो खंडन हुआ। अर्थात् क्षणभङ्गी आत्मा नहीं है सो सिद्ध हुआ। चार्वाकों ने तो जन्म से मरण तक एक अनुभविता और स्मर्ता माना है। इस मत से आत्मा मरण के बाद नहीं रहता मरण ही से उसका नाश होजाता है। इसके विरुद्ध

आत्मा का नित्यत्व—जन्म जन्मान्तर में रहना-१६ से लेकर २७ सूत्र तक सिद्ध किया है ।

(५) जब बालक का जन्म होता है तो थोड़े ही दिनों में-जब तक कोई भी सुख या दुःख का कारण उपस्थित नहीं होता तभी उसको सुख दुःख हर्ष शोक होने लगता है । बारही दिन का बालक बिछौने पर पड़ा पड़ा हंसता है । हंसना बिना खुशी के नहीं हो सकता । यह खुशी कहाँ से आई ? इस जन्म में तो कोई खुश होने का कारण अभी तक हुआ ही नहीं । इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहिले जन्म में जो कुछ खुशी की बातें उसके अनुभव हुई हैं उन्हीं के संस्कार वा बासना के बल से स्मरण उसको होता है और इसी से वह हंसता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कोई वस्तु जो इस बालक के शरीर में है उसका पहिले भी जन्म होगया है और उस बार के जन्म के ज्ञानों का स्मरण इसको अब हो रहा है । शरीर इन्द्रियादि तो यह वस्तु नहीं हो सकते । इससे इनके अतिरिक्त कोई स्थायी वस्तु है, यह मानना पड़ेगा । (सूत्र ३ । १ । १९.) । इसका संक्षेप न्यायमंजरी में यों कहा है (पृ.४७०)

'तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो. हर्षस्य च स्मृतिः ।
'स्मृतेरनुभवो हेतुः, स च जन्मान्तरे शिशोः ॥

(६) फिर जन्म होते ही बालक को दूध पीने की अभिलाषा होती है । यह अभिलाषा तभी हो सकती है जब पहिले इसका दूध पीने का अभ्यास रहा हो । इससे इस बालक के शरीर में ऐसी वस्तु का होना सिद्ध होता है जिसका पहिले भी जन्म हुआ है । और वही पूर्व जन्म की बातों का स्मरण करके दूध पीने की इच्छा करता है । यही वस्तु आत्मा है । (सूत्र, ३ । १ । २२) । प्रवृत्तिमात्र के प्रति इष्टसाधनताज्ञान कारण है । अतएव बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति के प्रति भी जन्मान्तरीय इष्टसाधन ज्ञान कारण मानना पड़ता है । तादृश ज्ञानाश्रयरूपेण आत्मा सिद्ध होता है ।

(७) हम देखते हैं कि जिस आदमी को राग बिलकुल नहीं है उसका जन्म नहीं होता—जिसका राग है उसी का जन्म होता

है । अर्थात् जन्म होने के पहिले किसी चीज की कामना जब होती है तभी उस कामना की पूर्ति के लिए जन्म होता है । इससे कामना वाले जन्म के पहिले कोई था—और वह अपने आगे के अनुभावों को स्मरण करके ही सुखदायी वस्तुओं की कामना करता है-यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । इससे भी आत्मा का पुनर्जन्म सिद्ध होता है । (३ । १ । २५)

(८) फिर हम यह भी देखते है कि जितने मनुष्य संसार में हैं उनके स्वभाव में, अवस्था में, बड़ा भेद है । कोई सुशील सदाचारी है-कोई दुष्ट और दुराचारी है-कोई गरीब है और कोई धनी है-इत्यादि । इस भेद 'का कारण क्या है ? पूर्व जन्म मे जो कर्म किए गए है उन्हीं के कारण इस जन्म के स्वभाव अवस्था इत्यादि होते है । इसको छोड़ और कोई कारण इस भेद का नहीं हो सकता । एक ही काल में उत्पन्न हुए यमज भाइयों के स्वभाव में और धन लाभ आदि म बड़ा भेद होता है । यद सब बिना पूर्वजन्म कृत कर्मो के माने नहीं ठीक समझा जा सकता । इसके विरुद्ध प्राय: यह कहा जायगा कि सब से पहिले जो संसार हुआ होगा उसमें आत्माओं में भेद कैसे हुआ-उसके पहिले तो कोई जन्म नहीं था फिर आत्माओं के किन कर्मों के फल वे भेद हुए होंगे । इसका समाधान यह कहा जाता है कि यह संसार चक्र अनादि चला आता है । सृष्टि का आदि जो शास्त्रों में वर्णित है सो प्रति कल्प की सष्टि का आदि है। इससे कल्पादि में जो भेद है सो पूर्व कल्प के कर्मो के फल से होते है । ऐसा ही कल्प कल्पान्तर मे सम्बद्ध अनुस्यूत एक आत्मा है सो सिद्ध होता है । जो आत्मा अच्छा काम करता है उसको उससे धर्म होता है, जो बुरा काम करता है उससे अधर्म होता है । यही धर्म अधर्म बीज की तरह आत्मा में लगे रहते हैं और आगे जाकर इसी जन्म में या आगे के जन्म में इन्हीं बीजों के फल सुख दुख: सुशीलता दुस्वभाव इत्यादि होते है । यदि जन्म जन्मान्तर में वर्तमान एक आत्मा नहीं होता तो ये बीज रूप धर्म अधर्म कहां रहते और इनका फल उन आत्मा ही को कैसे होता जिन्होंने वैसे कर्म किए होंगे । (न्यायमञ्जरी) पृ. ४७१-४७३

आत्मा के कई जन्म होते हैं यह जिन हेतुओं से सिद्ध होता है उन्हीं से यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है। अर्थात् जैसे इस जन्म की बातों से इससे पहिले का जन्म सिद्ध होता है वैसेही इस जन्म में हुई बातों से अग्रिम जन्म सिद्ध होगा। क्योंकि जन्म न होगा तो इस जन्म के किए हुए कर्म का फल कब होगा? जन्म लेने वाले के पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों ही के अनुसार जब जन्म सिद्ध हुआ तब आत्मा नित्य है सो भी सिद्ध होता है।

इस सब का संक्षेप तात्पर्य यह है कि चीजों का देखने वाला और उनका स्मरण करने वाला कोई एक ही वस्तु है यह अवश्य मानना पड़ता है। यह एक वस्तु ऐसी होगी जो कि देखने के समय से लेकर स्मरण के समय तक अवश्य स्थिर रहेगी। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि बीस पचीस बरस पहिले की देखी हुई चीज़ का आज स्मरण होता है। इससे यह एक वस्तु बरसों तक स्थिर रहने वाला अवश्य होगा। यह एक वस्तु शरीर नहीं हो सकता क्योंकि शरीर दस बीस बरस तक एक नहीं बना रहता। यह इन्द्रिय भी नहीं हो सकता क्योंकि एक इन्द्रिय की देखी हुई चीज दूसरे इन्द्रिय से नहीं अनुभूत हो सकती है। देखा हमने आंख से, फिर दस बरस बाद स्मरण करेंगे दूसरे इन्द्रिय ही से, ऐसा नहीं हो सकता। इससे अनुभव और स्मरण दोनों का करने वाला इन्द्रिय नहीं हो सकता। (तात्पर्यटीका, पृ. १४२)

आत्मा अनेक है। वेदान्तियों की तरह नैयायिकों ने आत्मा को एक नहीं माना है। यह न्यायमंजरी (पृ. ५२६) में स्पष्ट कहा है। और सूत्र १।१।१० से भी स्पष्ट सूचित होता है। जब इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान ये ही आत्मा के चिह्न हैं, येही इसके गुण हैं, तो फिर एक आत्मा कहां से होगा? इच्छा द्वेष इत्यादि तो अलग पाये जाते हैं। हम इच्छा करते हैं कि मिठाई खायँ, मेरा मित्र खटाई खाने की इच्छा करता है। मुझे सुख है, मेरे मित्र को दुःख है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि आत्मा अनेक है। इसी से नैयायिकों का मत है कि आत्मा अनेक है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जो आत्मा संसार को रचता है वह ईश्वर है। इसका निरूपण

गौतम ने चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में किया है।

ईश्वर या ब्रह्मा के शरीर ही से जगत् की उत्पत्ति है या स्वतन्त्र ईश्वर ही संसार का कारण है, इन दोनों पक्षों का २० सूत्र तक खंडन करके २१ सूत्र में गौतम ने अपना सिद्धान्त बतलाया है। परन्तु जिस ढंग से ये सूत्र पाए जाते हैं उससे सूचित होता है कि यह सिद्धान्त गौतम का नहीं है । मतान्तरों में इस मत का निरूपण पाया जाता है । और इन मतान्तरों को भाष्यकार ने 'प्रवादुकानाम्प्रवाद्' कहा है । यद्यपि वार्तिककार कहते हैं कि यह सिद्धान्त गौतम का ही है। इस मत का सारांश यह है। ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है। परन्तु स्वतन्त्र नहीं। संसार में जन्म लेने वाले जितने जीव हैं उनके पहिले के कर्मों के अनुसार ईश्वर संसार में पदार्थों को उत्पन्न करता है। जब जीवों के धर्म के फल के भोग का समय आता है तो उनके सुख के अनुकूल पदार्थों को और जब अधर्म के फल दुःख के भोगने का समय आता है तब दुःख देने वाले पदार्थों को, ईश्वर उत्पन्न करता है। ईश्वर का ज्ञान केवल आगम से होता है, प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द इन प्रमाणों से ईश्वर अतीत है। वह इन प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। इससे ईश्वर का अस्तित्व स्थिर करना असम्भव है, ऐसा भाष्य में लिखा है (पृ-२०१) परन्तु वार्तिक में कहा है कि ईश्वर है, इसमें यही प्रमाण है कि प्रकृति या परमाणु सब अचेतन है। इससे इनका पहिला व्यापार बिना किसी चेतन की प्रेरणा से नहीं हो सकता, बिना चेतन की प्रवृत्ति यदि रहे भी तो ऐसी प्रवृत्ति बराबर होती ही रहेगी, कभी होगी कभी नहीं ऐसा नहीं हो सकेगा। इनके व्यापार के बिना कोई चीज बनही नहीं सकती। इसी से यह सिद्ध हो गया है कि प्रकृति या परमाणु, जो कुछ संसार का समवायिकारण माना जाय, इनका प्रवर्तक कोई नित्य ज्ञान क्रियाशक्ति वाला चेतन अवश्य है। इसी का नाम ईश्वर है। जीव आत्माओं ही का ऐसा प्रवर्तक नहीं मान सकते क्योंकि यदि ये प्रवर्तक होते तो ये अपने को दुःख देने वाले पदार्थों को नहीं उत्पन्न होने देते।

जीवों के धर्म अधर्म के अनुसार ईश्वर सृष्टि करता है । इस पर एक शंका यह होती है कि ईश्वर का व्यापार क्यों होता है।

किसी प्रयोजन, किसी मतलब ही से चेतन की प्रवृत्ति होती है। ईश्वर को तो किसी बात की आकांक्षा नहीं हो सकती जिसके पूर्ण करने के लिये उसका व्यापार होता, फिर ईश्वर किस मतलब से सृष्टि करता है। इसका समाधान वाचस्पति मिश्र ने यह किया है कि जगत् की सृष्टि करने में ईश्वर का स्वार्थ कारण नहीं है, दूसरे जीवों के ऊपर कृपा करके ही वह सृष्टि करता है। इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि कृपा ही से सृष्टि होती तो संसार में फिर सुखही सुख होता, दुःख कभी नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि धर्म से सुख अधर्म से दुःख, इस न्याय का उलटना ईश्वर का काम नहीं है। जो अधर्म करेगा उसको दुःख अवश्य होगा। इसका कारण इतना ही है कि जो जैसा धर्म अधर्म कर आया है उसी के अनुसार सुख दुःख वह भोग करेगा। कम या बेशी नहीं। इसी से सृष्टि के आरम्भ ही में ईश्वर का व्यापार होता है, ऐसा मानना भ्रम है। नित्य हर दम ईश्वर का व्यापार हो रहा है (वार्तिक पृ० ४७१)।

जीव आत्माओं की तरह ईश्वर में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ये सब गुण हैं। भेद इतना ही है कि जीवात्माओं में ये सब गुण अनित्य हैं, ईश्वर के नित्य। जीवात्माओं में अधर्म, अज्ञान, प्रमाद इत्यादि दोष वर्तमान हैं और ईश्वर में ये नहीं हैं। ईश्वर में धर्म, ज्ञान समाधि और अणिमा लघिमा महिमा ईशिता इत्यादि गुण हैं। जीवात्माओं का ज्ञान बुद्धि अनित्य है, ईश्वर के नित्य हैं। ईश्वर के गुण के विषय में न्याय मंजरी (२०१) में यों लिखा है—

ईश्वर सर्वज्ञ है, उसका ज्ञान नित्य है, सभी इसके प्रत्यक्ष ही नित्य हैं, सकल विषय में ईश्वर का ज्ञान एकही है, दुःख द्वेष संस्कार को छोड़ और सब आत्मा के गुण ईश्वर में हैं, पर सभी नित्य हैं। धर्म इनमें है सो मान लेने में कुछ हानि नहीं है। सुख नित्य है, इच्छा भी नित्य है प्रयत्न और ज्ञान भी नित्य है। ईश्वर का शरीर नहीं है (पृ० २०२)। इससे आत्मा के जितने अच्छे गुण हैं सभी ईश्वर में हैं। इसी से ईश्वर को एक आत्मा-विशेष माना है।

ईश्वर में भी धर्महो के भाव से अणिमादि अनित्य गुण हैं—ऐसा भाष्यकार ने कहा है (पृ० २०१) पर वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वास्तव में ईश्वर के धर्म अधर्म नहीं हैं, उनकी जितनी क्रिया होती है सब उनकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रभाव से और ये दोनों शक्तियां नित्य हैं। वार्तिक (पृ० ४९८) में लिखा है कि ईश्वर का धर्म नहीं है। ईश्वर के ज्ञान और इच्छा अव्याहत हैं।

दूसरा प्रमेय—शरीर

आत्मा का जन्म अनादि है और बराबर होता जायगा ऐसा कह आये हैं। जन्म तभी होता है जब आत्मा को किसी शरीर से सम्बन्ध होता है। अर्थात् शरीरग्रहणही जन्म है। शरीर का ग्रहण भी पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के द्वारा सुख या दुःख के भोगने ही के लिये होता है। फिर आत्मा के जितने सुख दुःख होते हैं सब इन्द्रियों ही के द्वारा और ये इन्द्रियां शरीरही में रहते हैं। इससे शरीरही सब सुखों का और दुःखों का निदान है। इसी से आत्मा के अनन्तर दूसरा प्रमेय 'शरीर बतलाया गया है। शरीर क्या है, इसके क्या लक्षण हैं, इत्यादि विचार गौतम ने १।१।११ और ३।१।२८, सूत्रों में किया है।

चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ के आश्रय या आधार को शरीर कहते हैं। जिस पदार्थ से सुख होने की आशा है उसके लेने के लिये, और जिस पदार्थ से दुःख की सम्भावना है, उसको दूर करने के लिये जो मनुष्य व्यापार करता है उसी को 'चेष्टा' कहते हैं। सूत्र तथा भाष्यकार ने ऐसा ही कहा है। यह लक्षण प्राणी मात्र के शरीर में तो लगता ही है, वृक्षादि में भी लग सकता है, क्योंकि वृक्ष में भी इस तरह के व्यापार पाए जाते हैं। जिस तरफ धूप रहती है उस तरफ वृक्ष अधिक फैलता है। लता के पास एक खूंटा गाड़ दीजिये तो कुछ हटी हुई भी लता उस पर चढ़ जायगी। इससे यह ज्ञात होता है कि वृक्ष यही समझ कर अपना शरीर उधर को फैलाता है कि उधर मुझे सुख मिलेगा। इससे सुख देने वाले पदार्थ के ग्रहण करने का व्यापार यहां भी पाया गया तो यह भी चेष्टाश्रय "शरीर" हुआ। पर वाचस्पति मिश्र ने (तात्पर्य पृ० १४७) साफ़ कहा है कि वृक्षादि के शरीर में यह लक्षण नहीं लगता क्योंकि उनका व्यापार सुखप्राप्ति के लिये या दुःख हटाने के लिये नहीं होता, और यहां पर 'शरीर' पद का मनुष्यशरीर ही से मतलब है। वार्तिक में कहा है कि सूत्र ३।१।२८ में शरीर को 'पार्थिव' (पृथिवी का बना हुआ) बतलाया है। यदि देवताओं के शरीर से

मतलब होता तो ऐसा न कहते, क्योंकि देवताओं के शरीर जल अग्नि वायु इत्यादि के भी होते हैं ।

शंकरमिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कार (४ । २ ५ ।) में कहा है कि असल में वृक्षों के भी शरीर है, परन्तु इनमें चेष्टा इन्द्रिय इत्यादि स्पष्ट नहीं देख पड़ते इससे इनका शरीर नहीं कहलाता ।

इन्द्रियों का आश्रय भी शरीरही है । इसका अर्थ वार्तिककार कुछ बचाकर करते हैं । आश्रय पद से यहां आधार नहीं लेते । क्योंकि शरीर आधार तभी होता जब वह इन्द्रियों का समवायि कारण होता । और इन्द्रियों का तो कारण हो भी सकता है, परंतु मन और श्रोत्र ये दो इन्द्रियां नित्य माने गये हैं । इससे इनका कारण नहीं हो सकता । इससे शरीर को इन्द्रियों का आधार नहीं कह सकते । इसलिये ' शरीर इन्द्रियों का आश्रय है ' ऐसा कहने का यह मतलब है कि शरीर की अवस्थाओं के अनुसार इन्द्रियों की अवस्था होती है-जब शरीर पुष्ट होता है तब इन्द्रियां भी अच्छी दशा में रहती हैं और जब शरीर में हानि पहुंचती है तब इन्द्रियों में ह्रास होता है । " जो आदमी देश काल और अपनी अवस्था के अनुसार पथ्याभोजन तैलमर्दन और कसरत से अपने शरीर को अच्छी दशा में रखता है उस आदमी की इन्द्रियां अधिक बलवान् और शुद्ध होती हैं उस पुरुष की अपेक्षा जो कुपथ्य भोजन और आलस्य इत्यादि से शरीर को बुरी हालत में रखता है " (न्यायमञ्जरी पृ० ४७५) ।

अर्थ का भी आश्रय शरीर है । यहां अर्थ पद से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द विवक्षित है । इन्हीं के अनुभव से सुख दुःख होता है इससे ये अर्थ कहलाते हैं (सूत्र १ । १ । १४)—इसका भी आश्रय शरीर है । अर्थात् इनसे जब इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध से उत्पन्न सुख दुःख उसी आत्मा को होता है जिस का शरीर है । शरीर के रहने ही से रूप रस इत्यादि से सुख दुःख होता है । शरीर न हो तो इन अर्थों के रहते भी इनका अनुभव या उनसे सुख दुःख आत्मा को नहीं होता । इसी से शरीर रूप रस इत्यादि अर्थों का आश्रय कहलाता है ।

शरीर ही सब सुख दुःखों के अनुभव की जड़ है । इससे वह

हेय है। अर्थात् यदि मनुष्य मुक्त होना चाहे तो उसका शरीर से छुटकारा पाना ही इष्ट होगा। क्योंकि सुख दुःख के भाग का घर ही शरीर है। यह जब तक है तब तक भाग से छुटकारा नहीं। और जब तक भोग है तब तक मुक्ति असम्भव है। इसी लिये शरीर क्या है सो ज्ञान मुक्ति के लिये आवश्यक होता है।

यह शरीर किन चीज़ों से बना है? कुछ लोगों का मत है कि शरीर पृथिवी जल वायु अग्नि आकाश इन पांचों भूतों से मिल कर बना है। शरीर में यदि पृथिवी का अंश नहीं होता तो इसमें गन्ध नहीं होता। यदि जल का अंश नहीं होता तो शरीर में जो आर्द्रता देख पड़ती है सो नहीं होती, यदि वायु का अंश न होता तो श्वास प्रश्वास नहीं होता, यदि अग्नि का अंश न होता तो उष्णता वा अन्न का पचाना न होता, यदि आकाश का अंश न होता तो शरीर के भीतर जो कहीं कहीं खाली है सो नहीं होता।

शरीर की उत्पत्ति तो इसका किस कारण से होता है सो विचार सूत्र ४-२-११ में किया है। नैयायिकों का सिद्धान्त ऐसा है। अनेक आत्माओं में वर्तमान जो धर्म और अधर्म के संस्कार तिनके परिपाक का अवसर-अर्थात् उन धर्म अधर्मों के फल भोगने का अवसर—जब आता है तब उस भोग के अनुकूल शरीर उत्पन्न करने की इच्छा ईश्वर को होती है। उसी इच्छा के प्रभाव से परमाणुओं में चलन पैदा होती है। इस चलन से परमाणुओं में परस्पर संयोग होकर द्यणुक बनकर त्रसरेणुकादिक्रम से समग्र शरीर तयार हो जाता है।

नैयायिकों के मत से शरीर पांच भूतों से नहीं बना है। सूत्र ३।१। २८२९ में कहा है की शरीर पृथिवी ही से बना है। अर्थात् शरीर केवल पृथिवी के परमाणुओं के मिलने से बना है। इनका कहना है कि शरीर यदि पृथिवी और जल या अन्य भूतों के परमाणुओं के मिलने से बना होता तो इसमें गन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि गन्ध पृथिवी ही में पाया जाता है। और जब दो तरह की दो गुण वाली चीजों के मिलने से कोई तीसरी चीज बनती है तो उन दोनों चीजों का जो प्रधान गुण है वह उस तीसरी चीज़ में नहीं पाया जा सकता। जैसे लाल

और पीला पानी अगर साथ मिलाया जाय तो पानी का रंग न तो लालही रहेगा और न पीला। एक तीसरी ही नारंगी का रंग उस जल में हो जायगा। इसी तरह यदि पृथिवी और जल परमाणुओं के मिलने से कोई चीज़ बनती तो उस चीज में न तो गन्ध ही पाई जाती और न जल के गुण ही, एक विलक्षण तीसरा ही गुण उसमें होजाता। इसी तरह और भी किसी दो या अधिक भूतों के परमाणुओं के मिलने से जो कोई चीज़ पैदा होती तो उनमें इनके गुण जो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध हैं इनसे विलक्षणही कोई गुण उस चीज में पाया जाता। परन्तु हम स्पष्ट देखते हैं कि शरीर एक कठोर पदार्थ है और उसमें गन्ध एक प्रधान गुण है—इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह शरीर अवश्य ही ऐसे भूत के परमाणुओं के मिलने से बना है जिनमें कठिनता और गन्ध ये दोनों गुण हैं। ऐसा केवल पृथिवी भूत है।

अब यह शंका होती है कि यदि शरीर पृथिवीपरमाणु से बना है तो शैत्य इत्यादि जलादि भूत के जो चिह्न इसमें पाये जाते हैं वे कहां से आए। इसका समाधान यह है कि यद्यपि शरीर पृथिवी के परमाणुओं से बना है और इसका समवायि कारण पृथिवीपरमाणु ही हैं, तथापि और चार भूत जल, वायु, अग्नि, आकाश भी इसमें सहकारी कारण होते हैं। जैसे दीवार मिट्टी ही की बनती है, मिट्टी ही उसका समवायि कारण है, परन्तु पानी चूना, इत्यादि भी उसमें सहकारी कारण होते हैं।

शरीर पृथिवीपरमाणु से बना है इसमें श्रुति भी प्रमाण है। अग्निष्टोमयाग में जब पशु को मारते हैं तब उसके एक एक अंग को अपने अपने समवायिकारण में लीन हो जाने के सूचक मन्त्र कहे जाते हैं। 'चक्षुरिन्द्रिय सूर्य में जाय' इत्यादि कह कर "शरीर तुम्हारा पृथिवी में लीन हो जाय" ऐसा कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शरीर का समवायिकारण पृथिवी ही है।

एक एक आत्मा का अधिष्ठानरूप शरीर कैसे उत्पन्न होता है सो सूत्र २. २. ६२-६३ के भाष्य में लिखा है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के अनुरूप शरीर उत्पन्न होता है। इस जन्म में जो मैं कर्म करता हूं उससे मेरी आत्मा में धर्म अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न

होता है इन्हीं संस्कारों के द्वारा अगले जन्म में मेरा सुख दुःख होने वाला है, इसी से वैसे सुख दुःख भोगने के योग्य शरीर की उत्पत्ति इन्हीं संस्कारों के द्वारा होती है। इन्हीं संस्कारों के द्वारा पृथिव्यादि द्रव्य संघटित होते हैं, इन्हीं से मेरा दूसरा शरीर बनता है। प्रायः लोगों को ऐसा विश्वास है कि स्त्री पुरुष के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है। परन्तु यदि ऐसा होता तो जब जब ऐसा संयोग होता तब तब हर बार शरीर उत्पन्न होता। पर ऐसा नहीं होता। इस लिये स्वीकार करना पड़ता है कि स्त्री पुरुष संयोग के अतिरिक्त अवश्य और कुछ कारण है। यह कारण शरीर ग्रहण करनेवाली आत्मा का पूर्व कर्म है। इसी के द्वारा शरीर बनता है (सूत्र ३, २, ६८-६९,)। फिर अगर केवल स्त्री पुरुष संयोग द्वारा पृथिव्यादि द्रव्य के मिलने ही से शरीर उत्पन्न होता तो सब मनुष्यों के शरीर एक ही से होते, सबों को एक ही तरह के रोगादि होते। पर ऐसा नहीं होता। ऐसे शरीर के स्वरूप या रोगादि अवस्था के भेद का कारण केवल पूर्वजन्म का कर्म ही हो सकता है (३, २-७०)। इसी से भोग से पूर्व कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्ति होती है, फिर शरीर उत्पन्न नहीं होता।

तीसरा प्रमेय।

इन्द्रिय

तीसरा प्रमेय इन्द्रिय है। इसका विचार इस लिये आवश्यक है कि इन्द्रियों ही के द्वारा सांसारिक सुख दुःख होते हैं। 'जन्म मरणादि इन्हीं के द्वारा होता है इससे ये हेय हैं'—ऐसा विचार करते हुए आदमी को इनसे और इनके द्वारा उत्पन्न सुख दुःख से वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वैराग्य मोक्ष-प्राप्ति में उपकार करता है (न्या. म. ४७७)।

इन्द्रिय नाम उन करणों का है जो स्वयं किसी इन्द्रिय-से ज्ञात न हों पर जिनके द्वारा उनके अर्थों का—रूप रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयों का—ज्ञान होता है। (भाष्य-वार्तिक १।१।१२)।

ऐसे करण पांच हैं-(१) घ्राण, जिससे गन्ध का ग्रहण होता है (२) रसन, जिससे रस अर्थात् खट्टे मीठे इत्यादि का ग्रहण होता है। (३) चक्षु, जिससे रूप-रंग का ग्रहण होता है। (४) त्वक्, जिससे स्पर्श अर्थात् ठंढे गरम का ग्रहण होता है। (५) श्रोत्र, जिससे शब्द का ग्रहण होता है।

ये पांचों इन्द्रियां किसी एक ही भूत के परमाणुओं से नहीं बनतीं। यदि ऐसा होता तो पांचों एक ही तरह की, एक ही स्वभाव की, होतीं और सब एक ही चीज़ के ग्रहण के निमित्त-कारण होतीं। ऐसा देखा नहीं जाता। ये पृथक् पृथक् पांच चीजों के ग्रहण के करण होती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जिस अर्थ के ग्रहण में जो इन्द्रिय करण होती है वह इन्द्रिय उसी भूत से बनती है जिस भूत का वह अर्थ खास गुणवाला होता है। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है इस लिए यह इन्द्रिय पृथिवी से बनी है क्योंकि गन्ध पृथिवी ही में होती है। रसनेन्द्रिय जल से बनी है क्योंकि रस जल ही का खास गुण है। चक्षु तेज से बना है क्योंकि रूप तेज ही का खास गुण है। त्वक् वायु से बना है क्योंकि स्पर्श वायुही का खास गुण है। श्रोत्र आकाश से बना है क्योंकि शब्द आकाशही का खास गुण है। (सूत्र. १ १. १२)

ये भूत पांच ही हैं। पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश (सूत्र १। १। १३)। इन्हीं के गुण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं (१। १। १४)। घ्राणेन्द्रिय नाक में है, रसनेन्द्रिय जिह्वा में, चक्षुरिन्द्रिय आंख में, त्वक् इन्द्रिय शरीर भर के चर्म में, और श्रोत्रेन्द्रिय कान के भीतर। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा सुख दुःख होते हैं। इससे सुख दुःख के कारण जो धर्म-अधर्म हैं वेही इन्द्रियों के भी कारण होते हैं। जो आदमी धार्मिक है और उस धर्म के अनुसार सुख भोग करने वाला है उसकी इन्द्रियां सुख उत्पन्न करनेवाली होती हैं; पापियों की इन्द्रियां दुःख उत्पन्न करनेवाली होती हैं।

इन्द्रियों के विषय में मतभेद कई तरह के पाए जाते हैं। सांख्य के मत से इन्द्रिय अहंकार का विकार है अर्थात् अहंकार ही से इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। नैयायिकों के मत से मन को

छोड़कर [मतान्तर में श्रोत्रव्यतिरिक्त] चारही इन्द्रियां भौतिक हैं अर्थात् पृथिव्यादि पांच भूतों से बनी हुई हैं। बौद्धों के मत से शरीर में जो प्रत्यक्ष गोलक देखा जाता है-जैसे आंख की पुतली-वही इन्द्रिय हैं, पर नैयायिकों के मत से जो अंग देखे जाते हैं वे इन्द्रियाँ नहीं हैं वे केवल इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। जैसे 'चक्षु' इन्द्रिय तैजस-आग का बना हुआ-पदार्थ है जो आंखों की पुतलियों में आश्रित हैं। इन के मत से इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता, ये अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रिय पृथिव्यादि पांचों भूतों की बनी हुई हैं-इसका प्रमाण यह है कि हम देखते हैं कि पृथिवी के अतिरिक्त और कोई वस्तु गन्ध का व्यंजक नहीं होती है। पृथिवी से अलग कहीं गन्ध नहीं पाई जाती। इसी तरह जल से पृथक् रस का ग्रहण नहीं होता। अग्नि से पृथक् रूप का ग्रहण नहीं होता और आकाश से पृथक् शब्द का ग्रहण नहीं होता। पांचों भूत पांचों अर्थात् गन्धादि के व्यंजक हैं। ये ही पांचों अर्थ घ्राण आदि इन्द्रियों से प्रतीत होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस इन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है वह गन्धव्यञ्जक भूत अर्थात् पृथिवी से बनी है। रस का ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय रसव्यंजक भूत जल से बनी है-इत्यादि।

ये मतभेद अमूलक नहीं हैं। आंखों की पुतलियाँ जब तक खुली रहती हैं तभी तक चीज़ें देखी जाती हैं। इससे मालूम होता है कि पुतलियों में जो भौतिक पदार्थ देखा जाता है वही 'चक्षु' इन्द्रिय हैं। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि जो चीजें आंखों से देखी जाती हैं वे आंखों से बहुत दूर रहती हैं। यदि इन्द्रिय भौतिक पदार्थ होतीं तो दूर की चीजों का ग्रहण कैसे कर सकतीं। इससे ज्ञात होता है कि यह इन्द्रिय एक ऐसी वस्तु का विकार है जो सर्वत्रगामी है। ऐसी ही वस्तु को सांख्य ने अहंकार माना है। यदि इन्द्रिय पृथिवी आदि से बनी होती तो दूर की चीजों का ग्रहण कभी न कर सकती। सर्वत्रगामी वस्तु का विकार इन्द्रिय है यह इससे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रियों से बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी चीजों का ग्रहण

होता है-आंखों से हम पर्वत को भी देखते हैं और सरसों के दाने को भी। इन्द्रिय यदि भौतिक होती तो इन्द्रिय या तो बड़ी ही चीजों का ग्रहण करती या छोटी ही चीजों का। (सूत्र. ३। १। ३१)।

इसका समाधान नैयायिकों ने इस प्रकार किया है कि दूर की चीज़ें जो देखी जाती हैं और जो बड़ी छोटी सब चीज़ें देखी जाती हैं इसका कारण यह है कि आंखों की ज्योति बाहर जा कर जिन जिन चीज़ों पर पड़ती है उनका ग्रहण आँखों से होता है। इससे हर चीज़ के ग्रहण मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि इन्द्रिय सर्वगामी है या सर्वगामी वस्तु का विकार है। जब कोई चीज़ देखी जाती है तब आंखों की रौशनी बाहर जा कर उस चीज़ का प्रकाश करती है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि जब आँखों के सामने कोई आवरण आता है तब उस आवरण की दूसरी ओर की चीज़ नहीं देखी जाती। दीवार से छिपी हुई चीज़ नहीं देखी जाती। यदि इन्द्रिय सर्वगामी होती तो दीवार के भीतर भी जाती, उसका व्यापार दीवार से रुक न सकता। भौतिक होने पर 'चक्षु' इन्द्रिय दूर की चीज़ों को कैसे ग्रहण कर सकती है इस प्रश्न का कोई उत्तर न होता यदि आंख की पुतलियां जो देखी जाती हैं वे ही 'चक्षु' इन्द्रिय होतीं। पर नैयायिकों के मत से ऐसा नहीं है। पुतलियों के भीतर एक सूक्ष्म तैजस पदार्थ ज्योतिस्वरूप है, वही 'चक्षु' इन्द्रिय है। यह तैजस पदार्थ आंखों से बाहर जा सकता है। इस से दूर की चीज़ों का ग्रहण अच्छी तरह हो सकता है।

यदि कुल इन्द्रियां प्राप्यकारी होतीं, अर्थात् उन्हीं चीज़ों का ग्रहण कर सकतीं जिन पर वे जाकर पड़ती हैं तो ऊपर कही हुई युक्तियां ठीक होतीं। पर इसमें मत भेद है। कुछ लोग कहते हैं कि 'रसन' 'स्पर्श' ये दो इन्द्रियां तो स्पष्ट प्राप्यकारी हैं। जब तक खाने की चीज़ें जिह्वा में नहीं लगतीं तब तक रस का ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार जब तक चीज त्वचा से छू नहीं जाती तब तक उसके स्पर्श का ग्रहण नहीं होता। पर 'घ्राण' से दूर की महक का तथा 'चक्षु' से दूर के रूप का और श्रोत्र से दूर के शब्द का

ग्रहण होता है। इससे ये तीनों इन्द्रियां अवश्य 'अप्राप्यकारी' हैं। अर्थात् इन इन्द्रियों से जिन चीज़ों का ग्रहण होता है इन्द्रियां उनके ऊपर जा कर नहीं पड़ती। नैयायिकों का मत ऐसा नहीं है। सामान्यतः हम यह देखते हैं कि जितने कारक-हथियार-हैं वे अपनी चीजों के ऊपर अवश्य जा कर पड़ते हैं। जब कुठार से लकड़ी काटी जाती है तब जब तक कुठार उस लकड़ी पर जाकर नहीं गिरता तब तक कटना नहीं होता। इन्द्रिय भी एक प्रकार का कारक-हथियार-है। इसका भी अपने ग्राह्य वस्तु पर जाकर गिरना आवश्यक होगा। चक्षु, घ्राण, श्रोत्र यदि अप्राप्यकारी होते तो दीवार में छिपी हुई चीज़ों का रूप, दस बीस कोस का शब्द या गन्ध, ये सब भी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत हो सकते। शब्द आकाश में उत्पन्न होकर इन्द्रिय से जब सम्बद्ध होता है तभी उस शब्द का ग्रहण होता है। इसी तरह दूर की गन्ध भी वायु द्वारा जब शरीर के भीतर के पार्थिव इन्द्रियों में आकर लगती है तभी उस गन्ध का ग्रहण होता है। दूर के रूप का ग्रहण जब होता है तब आंख के भीतर का तैजस पदार्थ बाहर जा कर उस रूप के ऊपर जा कर लगता है। आंखों की ज्योति बाहर जाती हुई कभी देखी नहीं जाती सो ठीक है। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ऐसी ज्योति है ही नहीं। जिसको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते उसको अनुमान से जान सकते हैं। 'चक्षु' इन्द्रिय का तैजस ज्योतिस्वरूप होना अनुमान से सिद्ध है। प्राप्यकारी सब इन्द्रियां हैं, यह भी अनुमान से सिद्ध है। यह प्राप्यकारित्व तब तक नहीं हो सकता जब तक आंख की ज्योति का बाहर निकलना न माना जाय। इससे यह भी अनुमान सिद्ध हुआ। आंख की ज्योति की किरणें नहीं देख पड़तीं इसका कारण यह है कि वे किरणें उतनी तेज नहीं हैं जितनी बाहर की ज्योति। इसी से उनकी रोशनी दब जाती है। जैसे दोपहर दिन को लम्प की रोशनी फैलती नहीं देख पड़ती तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वह रोशनी फैलती ही नहीं। उसकी रोशनी सूर्य की रोशनी से दब जाती है। इसी से वह फैलती नहीं देखी जाती। (सूत्र. ३। १। ३९) यह भी नहीं कहा जा सकता कि चक्षु इन्द्रियों से निकलती हुई

ज्योति कभी नहीं देखी जाती । क्योंकि वृषदंश जो एक प्रकार का जन्तु है वह जब अन्धकार में रहता है तब उसकी आंखों से निकली हुई रोशनी साफ़ देख पड़ती है । (सूत्र ३ १-४३)

दीवार से घिरी हुई चीजों पर आंख की रोशनी नहीं जा सकती पर स्फटिक, शिला, पानी इत्यादि पदार्थों से ढकी हुई चीजों का रूप अवश्य देखा जाता है । इसका कारण यह है कि स्फटिकादि पदार्थ आंख की रोशनी को नहीं रोक सकते । ये रोशनी को नहीं रोकते यह बात हम साफ देखते हैं । जब सूर्य की ज्योति स्फटिक के ऊपर पड़ती है तब उसके भीतर भी वह ज्योति देख पड़ती है और उसकी दूसरी ओर भी ॥

दर्पण में या जल में जो प्रतिबिम्ब देख पड़ता है उसका कारण सूत्र ३ । १ । ४६ में कहा है । यदि आंख की पुतली ही इन्द्रिय होती या 'चक्षु' कहलाती, अर्थात् जो देखी जाती है वही इन्द्रिय होती तो आंख में लगा हुआ अंजन क्यों नहीं देख पड़ता ? सम्बद्ध तो वह रहताही है । हमारे मत से तो आंख से जो रोशनी निकलती है वह अंजन के ऊपर ही ऊपर बाहर निकल जाती है । इससे अंजन का देखना सम्भव नहीं होता है । जब दर्पण आंखों के सामने आता है तब आंखों से निकली हुई ज्योति दर्पण पर जाकर गिरती है । दर्पण इससे स्वयं देख पड़ता है । परन्तु दर्पण का स्वभाव है कि उसके भीतर ज्योति नहीं जाती । इससे ज्योति उसमें लग कर फिर मुख की ओर लौट कर मुख पर आ गिरती है, इससे मुख देखा जाता है । जिन जिन चीज़ों पर यह लौटती हुई रोशनी पड़ती है वे सब चीज़ें प्रतिबिम्ब में देखी जाती हैं । इसीसे मुख के साथ साथ मकान, दीवार आदि के भी कुछ अंश दर्पण में देखे जाते हैं । चीज़ों का स्वभाव ऐसा क्यों है यह शंका नहीं हो सकती । जैसी जो चीज़ देखी जाती है, जैसा जिसका स्वभाव अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध होता है वैसा क्यों है-उस से दूसरे तरह का क्यों नहीं है यह शंका कोई बुद्धिमान् आदमी नहीं कर सकता । [सूत्र० ३ । १ । ५०]

इन्द्रियां पृथिव्यादि भूतों से बनी हैं-क्योंकि जैसे पृथिवी, जल, वायु, आग, आकाश के गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द खास गुण हैं वैसे

ही गुण क्रमशः घ्राण, रसन, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। घ्राण इन्द्रिय पृथिवी की बनी है क्योंकि गन्धादि पांचों गुणों में यह गन्ध ही का खास कर ग्रहण करती है। रसन इन्द्रिय जल की है क्योंकि यह रस ही का ग्रहण करती है। त्वक् इन्द्रिय वायु की है क्योंकि यह स्पर्श ही का ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय तैजस है क्योंकि यह रूप ही का ग्रहण करती है। श्रोत्र इन्द्रिय आकाश की है क्योंकि यह शब्द ही का ग्रहण करती है। [सू० ३। १। ६०]।

इन्द्रिय एक है या नाना? कुछ लोगों का मत है कि जितनी इन्द्रियां हैं सब शरीर में हैं और सभी इन्द्रियां त्वचा-चमड़े-ही में पाई जाती हैं। आंख की त्वचा में 'चक्षु' इन्द्रिय-नाक की त्वचा में 'घ्राण' इन्द्रिय इत्यादि। इस लिये एक ही इन्द्रिय-'त्वक्' मानना चाहिये, नाना इन्द्रियां मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है। इसी एक इन्द्रिय से सब प्रत्यक्ष ज्ञान होंगे [सूत्र-३ १-५१]।

नैयायिकों ने ऐसा नहीं माना है। इनका कहना है कि यदि एक ही इन्द्रिय होती तो जब हमको एक वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब उसकी सारी विशेषताएं प्रत्यक्ष हो जातीं, जैसे जब हम आमके रंग को देखते उसी क्षण साथ ही हम को उस फल की महक, उसका स्वाद, उसकी ठंढक इत्यादि भी प्रत्यक्ष हो जाती। आत्मा के साथ मनका संयोग और मन के साथ इन्द्रिय से सम्बंध है ही, फिर रूपरस-गन्धस्पर्श सभी के प्रत्यक्ष होने में क्या बाधा होती। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जब हम रूप देखते हैं उस समय गन्ध का ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आत्मा और मन का सम्बन्ध उसी इन्द्रिय के साथ है जिससे रूप देखा जाता है, जिस इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है उसके साथ उस समय सम्बन्ध नहीं है अर्थात् गन्ध की इन्द्रिय रूप की इन्द्रिय से पृथक् है (सूत्र ३. १. ५३)।

फिर यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय होती तो जैसे दूर की वस्तु का रूप देखा जाता है वैसे ही दूर की वस्तु का स्पर्श भी जाना जाता। अर्थात् आंख और त्वक् यदि एक ही होतीं तो दूर की चीज़ की ठंढक या गरमी भी हम त्वक् से जान सकते। ऐसा

नहीं हो सकता। इससे भी सिद्ध होता है कि देखनेवाली इन्द्रिय 'त्वक्' नहीं हो सकती। (सू० ३।१।१४)।

फिर यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय होती तो जिस आदमी की आँखें फूट गई हैं उसको भी रूप का ज्ञान होता, वह रूप देख सकता, क्योंकि त्वक् तो उसके शरीर पर विद्यमान ही है।

इन्द्रियों के 'अर्थ'—जिनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, पांच ही हैं जैसा सूत्र १।१।१४ में कहा है। इन पांचों विषयों के ग्रहण के लिये एक एक खास इन्द्रिय होगी, इसलिये इन्हीं पांचों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय पृथक् पृथक् हैं। इनके ग्रहण के लिये भी ऐसीही पाँच पृथक् पृथक् इन्द्रियां अवश्य होंगी। ये इन्द्रियां प्रत्यक्ष नहीं देखी जातीं, शरीर के भीतर रहती हैं। पर इनके अधिष्ठान या आश्रय शरीर में पृथक् पृथक् देखे जाते हैं। जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है उसका नाम 'त्वक्' है। यह समस्त शरीर में रहती है-समस्त शरीर से हमको गरम ठंढे का ज्ञान होता है। जिस इन्द्रिय से रूप का ग्रहण होता है वह आंख से बाहर निकलनेवाली ज्योति है। उसका नाम है 'चक्षु'। आँख के भीतर जो काली पुतली है वही ज्योति का अधिष्ठान है। गन्ध का ग्रहण जिससे होता है वह 'घ्राण' है। उसका अधिष्ठान नाक है। रस का ग्रहण 'रसन' इन्द्रिय से होता है। यह जिह्वा में है। शब्द का ग्रहण 'श्रोत्र' इन्द्रिय से होता है। यह कान के छिद्र के भीतर है। (भाष्य. पृ. १५०)

इन्द्रियों के व्यापार में भी फरक पाया जाता है। चक्षु इन्द्रिय आंख से बाहर जा कर अपने विषय का ग्रहण करती है, त्वक् इन्द्रिय बाहर नहीं जाती, विषय ही आ कर उसमें लगता है। यदि एक ही इन्द्रिय होती तो व्यापार में ऐसा भेद न पाया जाता। या तो रूप रस आदि सब के ग्रहण में इन्द्रिय बाहर जाती या सब ही आकर इन्द्रियों ही से मिलते।

सांख्यों के मत में ग्यारह इन्द्रियां हैं-पांच ऊपर कही हुई-पांच 'कर्मेन्द्रिय'-वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-और मन। नैयायिकों ने 'कर्मेन्द्रियां' नहीं मानी हैं। शरीर के भिन्न भिन्न अंग भिन्न भिन्न